ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० ए०

प्रकाशक—
अयोध्याप्रसाद गोयलीय,
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ,
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

प्रथम संस्करण
१९५५
मूल्य चार रुपया

मुद्रक—
विद्यामन्दिर प्रेस लि०,
डी० १५।२४, मानमन्दिर,
बनारस

विषय-सूची

खण्ड ४ : ललित कलाएँ

दिवगता पत्नी

श्रीमती विनोदिनी उपाध्यायको

विषय-सूची

खण्ड ७ : धर्म और दर्शन

अध्याय १८

दो शब्द

'कालिदासका भारत' का यह दूसरा भाग है। इसमे काव्य-नाटक, सगीत, चित्रकला, स्थापत्यकला, आदि ललित कलाओ, आर्थिक जीवन, शिक्षा और विद्या, साहित्य, धर्म और दर्शनका अध्ययन है। अन्तमे पुष्य-मित्र शुंगके साम्राज्य और कालिदासकी तिथि सम्बन्धी नई सामग्री परिशिष्ट रूपमें प्रस्तुत है। आशा करता हूँ विज्ञ पाठकका इस कृतिसे कुछ मनोरंजन होगा।

४-ए थार्नहिल रोड,
इलाहाबाद,
१४-२-५५

—लेखक

स्वरमे अपने स्वामीके यशोगानमे तल्लीन होती है यद्यपि उसकी आन्तरिक वेदना इतनी उग्र है कि वह सरलतासे सुखपूर्वक संगीत-क्रमको नही चला सकती और वह अपनी सुष्ठुतया अभ्यस्त मूर्च्छना[1] भी भूल जाती है।

ललित कलाओंके विकासमे राज्यकी ओरसे सहायता दी जाती थी। राजे ललित कलाओकी अभिवृद्धिमें बहुत मनोयोग देते थे जिनकी मुख्यतम शाखा सगीत था। मद्य तथा मैथुन[2] की विलास-प्रियताके लिए जिस राजाने अपना कर्तव्य-पालन छोड़ दिया था, उसके लिए सगीत वस्तुत 'प्रणय भोज्य' हो गया था जिसका सेवन वह नित्य किया करता।[3] "मृदग-तालोंसे प्रतिध्वनित प्रासादोमें कामुक तथा कामिनियोंके साथ रहनेवाले उसका प्रत्येक आगे आनेवाला उत्सव, पूर्वके उत्सवोंसे आनन्दोल्लासमें समृद्धतर और उसकी सज्जाको मात करनेवाला था।" अन्यत्र राजाका सगीत तथा उसके उपकरणोंके साथ अत्यन्त राग उसकी रानी[4] की आलोचनाका कारण हो गया है। हम स्मरण रख सकते है कि अजकी पत्नी इन्दुमतीको ललित कलाओ[5] सम्भवत सगीतकी शिक्षा उसके पतिने स्वय दी थी जिससे सिद्ध होता है कि राज-भवनमे उनका अभ्यास होता था। अग्निवर्ण एक भूत-पूर्व सगीत तथा नृत्यका आचार्य है और जो वेश्याएँ उसके पास आती है उनकी सगीत-सम्बन्धी अशुद्धियाँ ठीक कर देता है जिससे उनके शिक्षक[6] लज्जित होते है और यह स्वाभाविक है कि कवि इस अवस्थामें उसे 'विचक्षण' या 'कृती' की सज्ञा देता है।

हमें एक सगीतशालाका[7] पाठ मिलता है, जो एक नाटच तथा नृत्य-शालाकी उद्देश-साधिका भी थी, जहाँ उच्च कोटिके[8] शिक्षक (सुतीर्थाः)

---

१ वही, २३। २ स्त्रीविधेय रघु०, १६.४; कामिनीसहचरस्य, वही, ५। ३ वही, १६। ४ जइ राअकज्जेसु ईरिसी उवाअणिउणदा अजउत्तस्स मा०, पृ० २२। ५ ललिते कलाविधौ रघु०, ८.६७। ६ वही, १६.१४। ७ संगीतशाला शा०, पृ० १५०; माल०, पृ० ४.६। ८ मा०, पृ० २४; रघु०, १६.३६।

व्यावसायिक गवैये भी थे। हम पढ़ते हैं कि सन्तानोत्पत्तिके समान अवसरोंपर गानेके लिए गणिकाएँ[1] नियुक्त होती थी। सन्तानोत्पत्तिपर वेश्याओंके नृत्य-गानका कविका यह उल्लेख बाण-द्वारा उनके 'हर्षचरित' में समर्थित हुआ है जहाँ वे अपने नायकके जन्मका विशद वर्णन देते हैं। ऐसा दीख पड़ता है कि लोग, आजकी तरह ही उनको नाचने-गानेके लिए बुलाते थे। उनके साथ उनके समाजी[2] भी होते थे जो, जब वे गाती या नाचती थीं संगीतके वाद्य-यन्त्रोंको बजाते थे।

उज्जयिनीके[3] महाकालके विशाल देवालयमें गाने और नाचनेके लिए वेश्याएँ रखी जाती थीं। वे देवालयकी नियमित दासियाँ थीं जिनका कार्य था शिवके सम्मानमें नृत्य-गानके अतिरिक्त महादेवकी चामर-वाहिनियोंके[4] रूपमें उपस्थित होना। संगीत तथा नृत्यके शास्त्रीय ज्ञान नहीं होनेपर भी कई व्यक्तियोंका[5] संगीत-नृत्य-प्रेम इतना बढ़ा हुआ था और उनकी उस कलाकी दक्षता इतनी प्रशंसनीय थी कि जब कभी गणिकाएँ नृत्यमें चुक जातीं वे उठ खड़े होते और स्वयं अंग-संचालन द्वारा उनके दोषका निराकरण करते और इस प्रकार उनके शिक्षकोंको लज्जित[6] होना पड़ता।

निम्न वाद्य-यन्त्रोंका प्रयोग होता था और कविने बहुधा इनका नामोल्लेख किया है: वीणा[7], वंशकृत्य[8] (घटनानुसार मुरलीका संकेत करता हुआ), वेणु[9] (मुरली), अपने दूसरे नामों पुष्कर[10] तथा

१ वारयोषिताम् रघु०, ३.१९; गणिका वही, १९. ३५, १४, १५, १९; वेश्या, मे० पू० ३५। २ रघु०, १९.१४। ३ मे० पू०, ३५। ४ वहीं। ५ अग्निवर्ण, रघु०, १९; अग्निमित्र, माल०, १,११। ६ रघु०, १९.१४; गुरुष्वलज्जयत्। ७ वीणा रघु०, ८.३३; मे० पू०, ४५, ५.२३; परिवादिनी रघु० ८.३४, १९.३५; वल्लकी वही, ८.४१; ऋतु०, १.८; सुतंत्री रघु०, १.३। ८ रघु०, २.१२। ९ वही, [illegible] ३५। १० वही, १३.४०; १६.१३; माल०, पृ० २१।

खण्ड ५ : आर्थिक जीवन

अध्याय १५

खण्ड ६ : शिक्षा और साहित्य

अध्याय १६

अध्याय १७

परिव्राजिका अपने निम्नोद्धृत विचारोमें नृत्य-कलाकी सुन्दर व्याख्या करती है; "नर्त्तन-कला मुख्यत. व्यावहारिक प्रयोगमे निहित (प्रयोग-प्रधानम्[1]) है ।" वह स्पष्टतया सिद्ध कर देती है कि नृत्य-कला नाटच-कलाकी सगिनी थी और यही कारण है जिससे कालिदास दोनोको इस प्रकार व्यक्त करते है मानो वे एक ही अभिन्न कला हो । फलत. इस कला का अलग अध्ययन कठिन है क्योकि कवि-कृत दोनोकी एकता इतनी ाश्लिप्ट है ।

कई नृत्य-शैलियोका अभ्यास किया जाता था । यद्यपि कालिदास नृत्यके भेदोका सविस्तार तथा निश्चित सकेत नही देते, तथापि उनके ग्रन्थोंसे जो कुछ हमें ज्ञात होता है, उससे उसकी बहुमुखताका हमे दिग्दर्शन मिलता है । सगीत, नृत्य तथा नाटचका शिक्षक गणदास मालविकाको पचाग नृत्य[2] (पचागाभिनय) की शिक्षा दे चुकनेकी बात कहता है, कदाचित् इस उद्धरणका सकेत सगीत 'रत्नाकर' द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है । हमें इसके अतिरिक्त भी एक प्रकारका नृत्य पढनेको मिलता है जो 'छलिक'[3] कहलाता है । इसका आधार चतुष्पद[4] यानी चार पदवाला गीत था और प्रयोगमें[5] आनेवाले नृत्योमे सबसे कठिन समझा जाता रहा है । जैसा कि भाष्यकार काटचवेम[6] ने व्याख्या दी है, छलिक

---

१ प्रयोगप्रधान हि नाटचशास्त्रं माल०, पृ० १७; प्रयोगं, पृ० १३, २१, २४, १.५ प्रयोगसिद्धि पृ० १२.३२ । शास्त्रे प्रयोगे च पृ०, १५; प्रयोगविज्ञानम् शा०, पृ० १०, प्रयोग पृ० १३; प्रयोगेण विक्र०, ० ६० । प्रयोगमाद्यम् कु०, ७ ६१; प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः रघु०, १६.३६ । २ पंचागादिकमभिनयमुपदिश्य माल०, पृ० १४ । ३ छलिके माल०, पृ० ४, ५, ६, २१, २४ । पाठानन्तरचलितम् । ४ चतुष्प-दोत्थं छलिकं वही, पृ० २१, २४ । ५ दुष्प्रयोज्यम् वही, पृ० २१ । ६ तद् एतच्चलितं नाम साक्षात् यत् अभिनीयते । व्यपदेशपरावर्तं स्वाभिप्रायं प्रकाशकम् ।

अध्याय १३

चित्रकला, भास्कर्य और तक्षणकला

कालिदास अपने कालकी कलाके कार्य-कलापोका विशद विवरण हमे देते है। उन्होने अपनी रचनाओमें ललित कलाओंके विविध अगोका, जिनमें चित्रकला, स्थापत्य, भास्कर्य तथा तक्षणकला शामिल है, विस्तारसे वर्णन किया है। इन प्रकरणो पर उन्होंने जो सामग्रियाँ रखी है उनका परीक्षण करनेका प्रयत्न अगले पृष्ठोमें किया जा रहा है। तथापि स्थापत्य पर एक पृथक् अध्यायमें विवेचन होगा।

उसका युग कितने ऊँचे स्तर पर पहुँचा था इसको प्रमाणित[1] करनेके लिए कविकी रचनाओमें पर्याप्त सामग्रियाँ है। लोगोंके प्रतिदिनके जीवनकी घटनाओंसे सिद्ध होता है कि उनमें सौंदर्य-भावका[2] कितना विकास हुआ था।

व्यक्तिगत शृंगार

पुरुप लम्बे बाल रखते और स्त्रियोंके सदृश भीगे बालोको सुगन्धित अगुरसे सुवासित कर सुखाते थे। स्नानके पूर्व वे अपने शरीरको अनेको प्रकारके सुगध द्रव्योंसे[3] अनुलिप्त करते थे जिनमें अगराग और हरिचन्दन मुख्य थे। पुरुप-स्त्री दोनोको अलकारसे[4] बडा प्रेम था जिसको वे स्वतत्रतापूर्वक चावसे धारण करते थे। वे पुष्पोंके प्रेमी थे, जिनको स्त्रियाँ विशेषकर चाहती थी और सोना-चादी तथा रत्नोंके[5] अलकरणोंके स्थानमें उन्हें पहनतीं और जिनकी कलियोको वे अपने केशोमें[6] गूथती तथा जूडोमें[7] खोसती थी। स्त्रियोंके वस्त्र रग-विरगे[8]

---

१ ललिते कलाविधौ रघु०, ८.६७; कला माल०, पृ० ६५. ललिताभिनय वही, ४६; विक्र०; २.१७। २ ऋतु०; ४.५, ५.५, १२। ३ अन्ते देख। ४ वही। ५ वही। ६ वही। ७ वही। ८ वही।

अध्याय १६

दर्शन

परिशिष्ट

आलिखित है। एक संकेतमें एक प्रतिकृतिकी दूसरीसे तुलना की गई है जिसमें एक वानर आलिखित[1] था।

आलिखित और आलेख-आयोजित दोनों प्रकारकी प्रतिकृतियोंकी पूरी योजनाएँ है। उनका एक सविस्तार विवरण दिया जा सकता है। अभिज्ञानशाकुन्तलमें विदूषककी उक्तिके एक अंशसे, जो विविध मानवी अनुभूतियों और भय, विस्मय आदि मनोभावों तथा खुले लटकने वाले और मुखपर श्रम-विन्दुओंसे[2] आलक्षित श्रान्तिके भावोंके आलेख्यकी ओर संकेत करता है, कल्पना की जा सकती है कि भारतीय चित्रकारोंने कितनी उच्च कोटिकी सफलता प्राप्त की थी। चित्तकी वृत्तियोंको[3] आलिखित किया जाता था। एक कथनमें चित्तवृत्तियोंकी[4] सुन्दर प्रतिकृतिकी प्रशंसा की गई है। दुष्यन्तकी शिकायत है कि उसके सामने शकुन्तलाकी जो प्रतिकृति चित्रित की जा रही है उसमें कानोंपर केशोंसे गाँठ, कानोंमें लगाये गये चिबुकको छूने शिरीषके फूल और उरोजोंके मध्यस्थित कमलके नाल-तंतुका अभी भी अभाव खटकता है। यह अन्यथा चित्रकी पृष्ठभूमिको तपोवनके[5] कदम्बके वृक्षोंसे भरनेका प्रस्ताव करता है। एक और संकेत एक प्रतिकृतिकी ओर है जिसमें हाथमें लाल कमल लिये शकुन्तला खडी है और उससे अपने अधरों[6] से आ लगनेवाले भौंरेको भगाती है।

प्रतिकृति चित्रणके समान सम्मिलित चित्रकलाने भी उन्नति की थी। हम तीन व्यक्तियोंके[7] समूहको आलिखित पढते है जिनमें प्रत्येक आकृतिका

१ आलेख्य वानर इव विक्र०, पृ० २७। २ तर्कयामि यथा:.. लिखिता सा शकुन्तला शाकु०; पृ० २०९–१०। ३ रागवद्धचित्त-वृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंग वही, पृ० १३। ४ वही; पृ० २०८। ५ शाकु०, ६.१८। ६ पूरितव्यं .. कदम्बैः वही; पृ० २१२। ७ कुसुमरसः . मधुकर. वही, पृ० २१३–१४। ८ तिलस्तत्रभवत्यो —ग्यन्ते वही, पृ० २०९–१०।

चतुर्थ खण्ड

अध्याय १२

कविता तथा नाटक, संगीत तथा नृत्य

कालिदास, जैसा कि उनकी रचनाओंसे प्रत्यक्ष होता है, बड़ी योग्यताओं वाले व्यक्ति थे और उनमें सौंदर्य भावनाकी असामान्य मात्रा थी। उन्होंने ललित-कलाओंकी अनेक शाखाओंका सविस्तार वर्णन किया है। कविता तथा नाटक, संगीत तथा नृत्य, चित्रकला, भास्कर्य और मृण्मूर्तिकरण तथा स्थापत्य—विविध विवरणयुक्त सबका वर्णन किया गया है और कविके ग्रन्थोंके अनुशीलनसे प्रकट उनका एक विवरण अगले पृष्ठोंमें देने की चेष्टा की जायगी। कविता तथा नाटकका यहाँ सिद्धान्त-मात्र रखा गया है, कारण, उनका सविस्तार विवरण 'शिक्षा तथा साहित्य' नामक अध्यायमें दिया गया है।

कालिदास प्रथम श्रेणीकी संस्कृत कविताके युगके प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी अपनी कविता सर्वोच्च कोटिकी है और संस्कृत-साहित्यमें माधुर्य एवं परिपाकमें सर्वोत्कृष्ट है। गीति-काव्य मेघदूतने अपनी रूपकमय तथा

कविता तथा नाटक

रोमांचकारी स्वर-लहरीके द्वारा संसारको मुग्ध कर लिया है। 'रघुवंश' और 'कुमार सम्भव' दो ऐसी कथा-वस्तुएं हैं जिनका सर्वमान्य श्रेय कालिदासकी प्रतिभाको प्राप्त है। अभिज्ञानशाकुन्तल मर्त्योंको अभिभूत करनेवाले कोमलतम भावोंका प्रतीक है और यह अपने रचयिताको सर्वकालीन जगत्के सर्वश्रेष्ठ कवियोंकी पंक्तिमें होनेकी ओर संकेत करता है।

1722

'वर्तिका'[1], 'तूलिका'[2], 'लम्बकूर्च',[3] 'चित्रफलक',[4] 'वर्ण'[5] और 'राग'[6] तथा 'वर्तिकाकरण्डक'[7]। शलाका एक पेंसिल थी जिससे चित्रका ढाँचा अंकित किया जाता था। 'वर्तिका' या 'तूलिका' कूची थी और वैसे ही 'कूर्च' भी। किन्तु कदाचित् वर्तिका या तूलिका तथा कूर्चमें कुछ भेद था; कारण कूर्च आधुनिक रंगनेके ब्रुशके सदृश उपयोगमें आनेवाला था और उसकी नोकें फटी थी और वर्तिका या तूलिका थी भोथरी नोकवाली कलम। 'लम्बकूर्च' पद से पता चलता है कि कूची (कूर्च) के भी दो प्रकार थे, एक बडी और दूसरी छोटी। चित्रफलक वह पट था जिसपर चित्रांकन होता था। चित्रांकनमें प्रयुक्त रंग वर्ण या राग था। एक चित्रके अंकनमें हम लोहित-पीत तथा हरित[8] आदि बहुसंख्यक रंगोंका वर्णन पाते है। 'वर्तिका-करण्डक' 'चित्रकारकी पेटी' था जिसमें कूँची कदाचित् रंग भी और चित्रकरणके लिए दूसरी सामग्रियाँ रखी जाती थी।

चित्रकलाके उपकरण

ऐसा प्रतीत होता है कि रंगोंका प्रयोग बहुत विचारपूर्वक किया जाता था। इसके लिए कई रंग प्रयुक्त होते थे। 'कुमारसम्भव' मे रंगोंका[9] संकेत करता हुआ कवि कहता है कि रंगोंके[10] प्रयोगसे एक छविकी सुन्दरता निखर उठती है। ालविकाग्निमित्रकी चित्रशालाकी चित्र-वीथीमें रानी बैठी रंग-बाहुल्यसे ूरित चित्रोंका निरीक्षण कर रही है जिनके रंग ताजे[11] है।

रंग

---

१ रघु०, १६.१६; कुमा०, ८.४५। २ कुमा०, १.३२। ३ शाकु०, पृ० २१२। ४ वही, पृ० १६६, २०८, २१०; विक्र०, पृ० ४२। ५ शाकु०, पृ० २१६। ६ माल०, पृ० ५। ७ शाकु०, पृ० २१७। ८ कुमा०, ८.४५। ९ शाकु०, पृ० १३; माल०, पृ० ५। १० कुमा०, ~~। ११ प्रत्यग्रवर्णरागां माल०, पृ० ५।

~122

कालिदास स्वयं अपनी कविताकी उत्कृष्टताको स्वीकार करते हैं और यह सूचित करते एक अर्थमय पंक्तिका समावेश करते हैं कि किसी कृतिकी उत्कृष्टता उसकी रचनाकी प्राचीनतापर निर्भर नहीं करती किन्तु योग्य समालोचकोंकी[१] प्रशंसा जब उसे प्राप्त होती है तभी वह उत्कृष्ट समझी जाती है। अपने प्रख्यात पूर्व पुरुष वाल्मीकि मुनिके प्रति उनका भाव सम्मानपूर्ण विनम्रताका[२] है, किन्तु भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि प्रथम कोटिके कवियोंके सम्बन्धमें कविता तथा नाटकके क्षेत्रमें उनकी आत्म-चेतना अधिक अग्रगामिनी है जिनकी रचनाओंके साथ एक आलोचनात्मक और पक्षपातरहित तुलनाके लिए वे अपील करते हैं और किसी प्रकार भी उनकी गर्वपूर्ण गरिमाके[३] सामने सिर झुकानेको तैयार नहीं है। 'मालविकाग्निमित्र' के उनके प्रसिद्ध पद्यके[४] भावके सम्बन्धमें कोई भ्रम नहीं हो सकता जिसमें वे कुछ समालोचकोंके सामयिक विचारोंको लक्ष्य करते हैं जो अपने प्रिय कवियोंके लिए प्राचीनता तथा वयोवृद्धताका तर्क उपस्थित करते थे। इन कवियोंके सुप्रतिष्ठित स्थितिके सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं, कारण, केवल भासके[५] ही हमें सौभाग्यसे बहुसंख्यक नाटक प्राप्त हुए हैं जो किसी प्रकार निम्नकोटिके नहीं हैं। सौमिल्ल[६] और कविपुत्र[७] तो हमारे लिए केवल नाम ही हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उस युगकी साहित्यिक परम्परामें अपने नाम निश्चित रूपसे स्थिर कर लिये थे और काव्यात्मक संकेतोंमें वे अच्छी प्रकार समझ लिये जाते थे।

कालिदासके युगमें सुसंस्कृत (संस्कारपूत) संस्कृत भाषाने बड़ी उन्नति की थी, किन्तु मातृभाषा, यानी प्राकृतकी सरल सहज शैली[८]

---

१ माल०, १.२। २ रघु०, १. ४। ३ पुराणमित्येव न साधु सर्वं माल०, १.२। ४ पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः वही। ५ भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां वही, पृ० २। ६ वही। ७ वही। ८ कु०, ७.९०।

के तीन शिरोकी एक संयुत आकृति है। हमें एक और भास्कर्य-कृतिका सकेत प्राप्त होता है जिसमें कमलोंके[१] मध्य रश्मियाँ विकीर्ण करता चन्द्रमा उत्कीर्णित था।

यहाँ हमें अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि भारतीय मूर्तिनिर्मात शिल्पीके लिए मूर्ति उत्कीर्ण करना एक पवित्र कार्य था और प्रस्तावित मूर्तिके प्रकरणके ध्यानमें बैठने और ध्यानमें जब उसकी कल्पना बिलकुल जाग उठे तब उसके निर्माणका आरम्भ करनेका उसे शास्त्रीय आदेश था। शुक्रनीति[२] कहती है · "एक प्रतिमाका विशिष्ट गुण उसकी वह सामर्थ्य है जिससे वह 'ध्यान' तथा 'योग' की सहायिका होती है। अत. मानव मूर्तिकारको ध्यानपरायण होना चाहिए। किसी प्रतिमाके स्वरूपको जाननेके लिए ध्यानके अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नही—प्रत्यक्ष दर्शन भी (कामका नही)।" कालिदास इस विचारको दुहराते हैं और कलाकारकी असफलताका कारण उसमे ध्यानका अभाव मानते है (शिथिल समाधि) जिसपर हम चित्रकलाके प्रकरणमें पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं।

नीचेकी पक्तियोमें मृण्मूर्तियोंका एक मनोरजक सकेत दिया जा सकता है। शकुन्तलाका पुत्र मिट्टीके रगीन मयूर[३] (वर्णचित्रिता मृत्तिकामयूरा) के साथ खेल रहा है। उसके रग-वैचित्रकी[४] फिर प्रशसा की गई है (शकुन्त-लावण्यम्)। प्राचीन स्यानोकी खुदाईमे हमे असख्य मृण्मयी मूर्तियाँ मिली हैं, पक्षी और जानवरोकी आकृतिकी, खिलौनेके काममे आनेके लिए। उनपर अक्सर लाल, काला या पीला रग किया रहता है जो प्रासगिक मृण्मयूरके 'वर्णचित्रण' से भिन्न कुछ नही है। मयुरा

मृण्मूर्तियाँ

१ पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् रघु०, ७.६४। २ अध्याय, ४, विभाग ४.१४७–१५०। ३ वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति शाकु०, पृ० २४३, मृण्मयूरहस्ता वही; पृ० २४७; भद्रमयूरः वही; पृ० ४ वर्णचित्रितो वही, पृ० २४३, शकुन्तलावण्यं वही, पृ० २४७।

सम्मानित होती थी। नाटकोंमें प्राकृतके मधुरतम और अत्यन्त सरल शब्दोंकी भरमार है; प्रकृतितया प्राकृतका क्षेत्र बहुत विस्तृत था, क्योंकि यह सर्वसाधारणकी बोली थी, और अभिनयोंमें यही बोली राजा, पुरोहित, विदूषक, मन्त्री जैसे कुछ एक पात्रोंको छोड़कर सभी पात्रों-द्वारा बोली जाती थी। यह काव्यका वह काल था, जब सब 'वृत्तियों'का सम्यक् रूपेण विकास किया जाता और रंगमंचपर अभिनय[1] करते समय व्यावहारिक प्रयोग होता था।

रंग-मञ्च व्यस्त तथा प्रेक्षा-गृह दर्शकोंसे भरा था। विवाह और वसन्तागमके उत्सवोंपर[2] अभिनय साधारणतया होता था। विवाह-संस्कारोंकी समाप्तिपर आनन्द एवं उल्लास आरम्भ होता और कुमारियाँ नाटकके सदृश ही कुछ अभिनय करती थीं जो शालीन नाट्यके साथ हाव-भावमय नृत्यको मिश्रित करती और जिनके शब्दायमान भाव-भंगिमा एक अभिनेताकी कलाके साथ जीवनके दृष्टि-पथमें हृदयकी[3] उद्दाम चेष्टाएँ लाते थे और जो 'कौशिकी'[4]-जैसी 'वृत्तियों' में निष्णात थीं। 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक वसन्तोत्सवके[5] अवसरपर अभिनीत हुआ था।

जैसा कि संगीत तथा नाट्यके आचार्य, गणदासके कथनसे प्रत्यक्ष होता है नाट्य-कलाकी[6] बड़ी प्रतिष्ठा थी। निम्न प्रकार इस कलाकी व्यवस्था करते हुए वह व्यक्तिकी वंशगत विद्या (कुलविद्या) का संकेत करता है : "मान लिया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी वंशगत विद्याके सम्बन्धमें यथार्थमें उच्च विचार रखता है, किन्तु नाट्य-कलाके प्रति मेरा जो उच्च सम्मान-भाव है, वह कारणरहित नहीं है।"[7] इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न वंशज कलाके विभिन्न अंगोंमें प्रवीणता प्राप्त करते थे। नाट्य-कला देवताओंके लिए शान्तिमय यज्ञ समझी

---

१ वही, ६१। २ वही, पृ० २; वि०, ० ६०। ३ कु०, ७.६१। ४ वही। ५ वसन्तोत्सवे माल०, पृ० २। ६ नाट्य वही, पृ० ७.१.४। ७ वही, ५.७।

दीप-शिखाके[1] समान दीख रहे हैं। उनके 'ब्रह्मरन्ध्र' (सिरके उच्चतम केन्द्र) से स्फुरित ज्योति उनके भालपर स्थित चन्द्रमाकी रश्मिको लज्जित कर रही है।[2] इस प्रकार शरीरके नव द्वारोंके कपाट बन्द कर, बाह्य जगत्से अपना सारा सम्बन्ध विच्छेद कर और हृदयके समस्त कार्योंको रोक मनको उसके अन्तर्विष्ट कर वे अपने अन्तरमें, अपनी आत्मामें[3] देख रहे हैं। कामदेव इस अजेय देवको सन्देह तथा भयकी दृष्टिसे देखता है और उसका धनुष[4] उसके हाथसे गिर पडता है। स्मरण किया जा सकता है कि ठीक इसी स्थिति और मुद्रामें गौतम, अन्तर्दृष्टि सम्पन्न बुद्ध होते हैं जब बोधि गयामें मार अपने सारे अनुचरोंके साथ उन पर आक्रमण करता है और उसकी उसी प्रकार पराजय होती है। इस सम्बन्धमें इन प्रतिमाओं तथा कविके वर्णनो-द्वारा प्रकटित चित्रणोंके बीच आकृति सम्बन्धी समानता प्रकट करनेके लिए भारतीय सग्रहालयो (विशेषत मथुरा-सग्रहालयमें सग्रहीत)[5] की बुद्ध तथा बोधिसत्त्वकी प्रतिमाओंकी विलक्षण शान्त ध्यान-मग्नताका उदाहरण रखा जा सकता है। मुनियोंके लम्बे-लम्बे बालो-वाली प्रतिमाओंके बाल सिर पर[6] एक गाँठ देकर बाँधे गये हैं। उन्होंने अपने शरीरके वायुओंको अपनेमें रोककर अर्द्ध-निमीलित आँखोंसे नासिकाग्र पर दृष्टि लगायी है। वे अपनी हथेलियोंको कमलाकृति बनाती अपने अकमें स्थापित किये और स्वय कमल-सी लगती 'वीरासन' मुद्रामें बैठीं निष्कम्प दीप-शिखाकी तरह स्थित हैं। शिवके 'ब्रह्मरन्ध्र' से निकलनेवाली ज्योतिका प्रतिरूप बुद्ध-मूर्तियोंके सिर पर बुद्धि-कोषका विस्फुरण 'उष्णीष' है। यह बल देकर कहा जा सकता है कि शिवकी समाधिके इस चित्रका प्रतिबिम्ब मथुराकी बुद्ध तथा बोधिसत्त्व मूर्तियोंमें गढ़ा है, क्योंकि कालिदासने शिवके ध्यानका जो सजीव चित्रण उपस्थित

---

१ वही, ४८। २ वही, ४९। ३ वही, ५०। ४ वही, ३.५१। ५ मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १० A २७, ४५, १, A १ (जैन), ५७ (जैन)। ६ वही, B १।

जाती थी (जहाँ खूँरेज़ोंका अभाव था) और शिवने इसको अपने शरीरमें (अर्द्धांगिनी उमाके साथ) दो धाराओंमें विभक्त किया था। सत्व, रज तथा तमके तीन मुख्य गुणोंसे उत्पन्न मानवी जीवनको उद्घाटित करनेका उद्देश रखनेवाली यह एक कला थी और यह विविध भावोद्रेकोंसे संयुक्त थी। यह नाट्य या दृश्य कला एक प्रकारका मनोरंजन कही जाती थी जो जनताकी[१] विविध रुचियोंको तृप्त करनेवाला था। यह मनोरंजक है कि नाट्य-कलाका यह लक्षण इसकी उत्पत्ति सम्बन्धी उसी प्रकार के विचारोंसे बिलकुल मिलता है जो भरतके 'नाट्यशास्त्र' और धनंजयके 'दशरूपक' जैसे रीति-ग्रन्थोंमें व्यक्त हुए है। यहाँ नाट्य-कलाकी एक परिभाषा है जो विशिष्ट रूपसे वैज्ञानिक है।

'मालविकाग्निमित्र' में संगीत, नृत्य तथा नाट्यके दो आचार्योंके बीच बौद्धिक विवाद उठ खड़ा होता है जिसमे क्रमशः उनके शिष्य अपने आचार्यकी योग्यताको सिद्ध करनेकी स्पर्द्धा करते है : "नाट्यके वे दोनों आचार्य, प्रत्येक दूसरेको पराजित करनेकी कामनावाला, जो आपको देखना चाहते है मानो दो नाटकीय भाव शरीर धारण कर आ उपस्थित हुए हों।"[२] उन आचार्योंमेंसे एक कहता है, 'मैंने नाट्य-कलाकी शिक्षा एक सुयोग्य आचार्यसे (सुतीर्थात्) पायी थी और यही नही, मैंने रूपक-निरूपण-कलाके व्यावहारिक पाठ भी दिये थे और फलत. मै राजा-रानी[३] का कृपापात्र भी था।" यह कथन ललित-कलाओं, विशेषकर नाट्य-कला के राज्य-द्वारा संरक्षणका प्रशंसक है। निम्न उक्ति इस कलाके सिद्धान्त तथा कार्य का संकेत करती है : "अतएव महाराज हम दोनोंके सैद्धान्तिक ज्ञान तथा व्यावहारिक नैपुण्यकी परीक्षा लेनेकी कृपा करें। केवल महाराज ही हमारे आलोचनात्मक निर्णयकर्त्ता है।"[४] यह कला सुपरिभाषित वैज्ञानिक विषयकी[५] कोटिमें आ गई थी। राजा, जो स्वयं काव्य-कला-

१ वही, १.४। २ वही, १.१०। ३ वही, पृ० १४। ४ वही, पृ० १५। ५ वही, १.४।

था। उनके 'पथ' तथा 'वीथी' की वर्ण-व्युत्पत्ति पर दृष्टि रखते हुए इन दोनो शब्दोंमें भेद करना ही पडेगा। पथके दोनो किनारो पर श्वेत[1] प्रासाद अवस्थित थे जिनके[2] ऊपरी वातायन वाहरसे खुले थे। राजपथके पार्श्वों पर वाज़ार लगता था और उसमें सम्पन्न (ऋद्ध) ऊँची दुकानें (आपण)[3] वनी थी।

राजप्रासाद एक विशाल इमारत था जो कक्षों[4] तथा अंचलोंसे[5] सयुत था। राजप्रासाद कई मजिलोवाले[6] महल थे जिनमें सर्वोच्च मजिलका कमरा[7] तल्प, छतें, तोरण,[8] अलिंद,[9] आगन,[10] सभागृह,[11] कारागृह,[12] सभा-भवन,[13] सिंह द्वार,[14] रात्रिमें चन्द्र-रश्मियोंसे[15] आप्लावित छतकी ओर खुलनेवाले वरामदे,[16] और प्रमदवन[17] होते थे। राजप्रासादोंके विविध नाम थे—विमानप्रतिछन्द[18], मणिहर्म्य,[19] मेघप्रतिछन्द[20], देवछन्दक[21] इत्यादि। ये नाम प्रासाद-स्वामियो द्वारा मनमाना नही रखे जाते थे किन्तु, जैसा कि 'मानसार' का मत है विशिष्ट इमारतके

राज-प्रासाद

---

१ प्रासादमालासु कुमा०, ७.१२। २ वही, ५७-६४; रघु०, ७.५-१२। ३ कुमा०, ७.५५; रघु० १६ ४१। ४ शाकु०, ५.३; कक्ष्यान्तराणि कुमा०, ७.७०, गूढं रहः ८ ८१; गर्भवेश्मसु रघु०, १९.४२। ५ वित्त०, पृ० २६। ६ नीचे देखो। ७ रघु०, ५ ७५; १६.६, ११, १९.२ तल्प। ८ तोरण वही, १.४१, ७४; कुमा०, ७.६३; मेघ० उ०, १२। ९ अलिंद शाकु०, पृ० १५९; माल०, पृ० ७८। १० मेघ० उ०, ६; शाकु०, पृ० २२३। ११ रघु०, १७ २७ सदोगृह ४.६७। १२ माल०, पृ० ६४, ७९। १३ विक्र०, पृ० २६। १४ शाकु०, पृ० १८५, मेघ० उ०, १७। १५ मणिहर्म्यपृष्ठतलं विक्र०, पृ० ६५। १६ वही। १७ प्रमदवन वही, पृ० ५४। १८ मेघ० उ०, ६। १९ विक्र०, पृ० ६४, ६५। २० शाकु०, पृ० २१३, २२१, २२८। २१ विक्र०, पृ० २६।

मर्मज्ञ था, अभिनयके आचार्यों-द्वारा नाटच-शास्त्रका पूर्ण ज्ञाता समझा जाता और उनके निर्णायक होनेके उपयुक्त माना जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि ललित कलाओको सीखनेमें स्त्रियोका विशेप स्थान था और जब यह पता चल गया कि अभिनयके निर्णय करनेमें इस षड्यन्त्रके पीछे राजाके हाथके होनेका सदेह रानी-द्वारा किया जा सकता है जिसका भेद इस प्रकार खुलनेकी सम्भावना है तब परिव्राजिका कौशिकी के पास जाकर इस प्रकार कहा गया : "देवि, गणदास और हरदत्तमें किसका ज्ञान बढकर है इस सम्बन्धका विवाद आ उपस्थित हुआ है; अतएव आप इस विपयमें निर्णायकका स्थान ग्रहण करें।"[1] यहाँ 'प्राश्निक' शब्द ध्यान देने योग्य है। इसका अर्थ है परीक्षा। नृत्य-कला मुख्यत' व्यावहारिक प्रदर्शनके[2] लिए ही समझी जाती थी और यद्यपि इसका सैद्धान्तिक विकास भी पर्याप्त हुआ था फिर भी प्रयोग-जैसा इसको महत्त्व नही दिया जाता था। इस कलाके विकासके लिए यह कहा गया है, "एक व्यक्ति अपनी कलाका आंगिक प्रयोग करनेमें अपनी सर्वोत्कृष्ट योग्यता प्रदर्शित करता है, दूसरा अपनी कलाको दूसरों तक पहुँचानेमें विशेप योग्यता रखता है, किन्तु जो इन दोनो गुणोंसे युक्त है उसे ही अध्यापकोमें श्रेष्ठ मानना चाहिए।"[3] इस प्रकार परिव्राजिकाके कथनमें नृत्य-कलाका, जो वस्तुत. नाटच-कलाकी एक शाखा थी, व्यक्तीकरण किया जाता है। नाटचाभिनय-विज्ञानमें 'मालविकाग्निमित्र' के अध्यापकोका विवाद (विज्ञान-सघर्प)[4] इस कला-विपयक धारणाको प्रकट करता है। अयोग्य पात्रको शिष्य रूपसे स्वीकार करना अध्यापककी[5] पात्र-परीक्षण की अयोग्यता समझकर निन्दनीय था और अध्यापकसे पूरी सावधानीसे

१...विज्ञानसंघर्पिणोः...प्राश्निकपदमध्यासितव्यम्। वही पृ० १७। २ प्रयोगप्रधानं हि नाटचशास्त्रम् वही। ३ वहीं, १.१६। ४ विज्ञान-संघर्षिणोः वहीं, पृ० १७। ५ विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयन्तीति वहीं, पृ० १६, वही, १.१९।

आधार है जिससे पुष्यमित्रका खारवेलका सम-सामयिक होना नितांत असम्भव प्रमाणित होता है। ई० पू०[1] प्रथम शताब्दीका एक ज्योतिष-ग्रंथ (पुष्यमित्रके कालके पचास वर्षोंके भीतरका लिखा हुआ) गार्गी-संहिताका युगपुराण, अशोकके चौथे उत्तराधिकारी शालिशुक मौर्यके राज्य-कालके बाद ही इस ग्रीक आक्रमणकी घटनाओंका वर्णन करता है। अब विष्णुपुराणके[2] अनुसार शालिशुक मौर्यके[3] पश्चात् कमसे कम तीन राजे आते हैं, यानी, सोम शर्मन मौर्य (वायुपुराणका दशवर्मन या देववर्मन), सतधन्वन मौर्य (वायुपुराणका सतदनस) और बृहद्रथ मौर्य (वायुपुराणका बृहदश्व या ब्रजदश्व)। इनमें अन्तिम नामवाले मौर्य नृपको मारकर पुष्यमित्रने मगधके सिंहासनका आरोहण किया। अब, यदि शालिशुक मौर्यके राज्यावसान पर आक्रमण आया, तो निश्चय ही शत्रुओं-द्वारा पाटलिपुत्रके पराभूत होनेसे कमसे कम तीन राजाओंके शासन-कालों तक शुंग सम्राट् नीचे घसीट लाया गया। स्मिथकी गणना के अनुसार भी पुष्यमित्र शालिशुक मौर्यसे कमसे कम इक्कीस वर्ष[4] दूर हट जाता है (यानी सोमशर्मनका ई० पू० २०६, पुष्यमित्रका ई० पू० १८५ का वर्णन) अत पुष्यमित्रके राज्य-कालमें आक्रमण कभी नहीं हुआ था। युगपुराणके इन महत्त्वपूर्ण साक्षी पर विद्वानोंकी दृष्टि नहीं गई। अब पुष्यमित्रके विरुद्ध खारवेलका आक्रमण स्वय निराधार है और यह और पहले कदाचित् शालिशुक मौर्यके कालमे हुआ होगा जिसकी सत्यताको स्वय स्मिथ हिचकते हुए, और शायद सन्देहके साथ, स्वीकार करता है।[5] युगपुराण का कहना है कि यद्यपि शालिशुक मौर्यने सौराष्ट्रकी जनताको उत्पीडित किया और सम्प्रतिकी स्पर्द्धा करता हुआ बलपूर्वक उनने अपना जैन धर्म ग्रहण करवाया, तथापि वह स्वयं भयानक रूपसे

---

१ जे० बी० ओ० आर० एस०, १४.१९२८, पृ० ३९९। २ E.H.I. चतुर्थ संस्करण, पृ० २०७। ३ वही, पृ० ४०१-०२, २.१६ ४ E H.I. चतुर्थ संस्करण, पृ० २०७। ५ वही।

शिष्यका चुनाव करनेकी आशा की जाती थी क्योंकि शिष्यकी किसी कलाके विकासकी सहज योग्यतापर अधिकांशमें अध्यापकके प्रयत्नोंकी सफलता निर्भर करती थी।

निम्नलिखित उद्धरणमें नाट्य-कला और उसके प्रणेता भरतका संकेत है. "देवराज लोकपालोंके साथ आज उस नाट्याभिनयको देखना चाहते हैं जिसकी शिक्षा तुमको भरतमुनिसे मिली है, जो अष्ट मनोभावोंका आधार है और जिसके अभिनय आकर्षक हैं।"[1] 'नाट्यशास्त्र' के ६, ७, ८, ९ तथा १० अध्यायोंमें विवेच्य भरत, 'अष्टरसाश्रय.' और 'ललिताभिनयम्' की ओर संकेत बतलाता है कि नाट्य-कलाके सिद्धान्तोंपर भरत की महान् रचना कालिदासके काल तक बिलकुल समाप्त हो गई थी। कालिदास स्वयं भरतका उल्लेख 'मुनि' कहकर करते हैं और इस प्रकार 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेताकी प्राचीनताकी ओर उनका लक्ष्य होता है। इस सम्बन्धमें एक बातपर और ध्यान आपेक्षित है। क्योंकि 'मालविकाग्निमित्र' नाटकके अभिनीत होनेका यह प्रथम अवसर था जैसा कि 'नवेन नाटकेन'[2] वाक्यांशसे प्रकट होता है, कदाचित् अभिरूप प्राश्निको या नाटकके निर्णायकोंमें सम्मिलित थे। यह स्मरण रखना चाहिए कि भरतके नाट्य-शास्त्रके अनुसार विशिष्ट अधिकारी पुरुषोंको जो लाक्षणिक नाम 'प्राश्निक' से अभिहित होते थे, नये रूपकोंके अभिनयोंको देखने और उनकी विशेषताओंकी सूचना राजाको देनेके लिए कार्य-भार सौंपा जाता था जो ऐसी अवस्थाओंमें उदीयमान युवक कवियोंके हितके रक्षकका काम करता था। यह माना जा सकता है कि इन निर्णायकोंके अनुकूल निर्णय योग्य सरस्वती-पुत्रोंको शीघ्र ही प्रसिद्ध बना देते और राजाका संरक्षण पाकर वे तुरंत प्रकाशमें आ जाते थे। 'मालविकाग्निमित्र' मे इन प्राश्निक[3] अधिकारियोंका स्पष्ट उल्लेख है।

---

१ विक्र०, २.१७। २ माल०, पृ० २। ३ वही, पृ० १७।

मृत्युके उपरान्त शीघ्र ही घटित हुआ तो महान् आक्रमणकारीके युद्धकी रगभूमिमें आनेके पूर्व कमसे कम तीन शासनोंका वीचमें आना आवश्यक है। इसलिए पुष्यमित्र खारवेल या डिमेट्रिजका समसामयिक होता हुआ मगधका शासक नही हो सकता। तथापि उसका एक अल्पवयस्क सम-सामयिक होना माना जा सकता है जो मौर्य-सेनामें काम करता हुआ अपने भावी आक्रमणोंके लिए योजनाएँ वनाने और विद्रोह करनेकी चिन्तामें लगा हो। तो भी विगत वर्षोंके एक प्रसिद्ध प्रकाशन, अपने 'ग्रीक्स इन वैक्ट्रिया एण्ड इंडिया'मे टार्न-द्वारा प्रकटित विचारको, कि मेनाण्डर शायद डेमेट्रियसका एक सेनापति और सम्भवत उसका दामाद[1] भी था, मैं स्वीकार करनेको तैयार हूँ। यदि ऐसा था, तो मेनाण्डर निश्चय ही दूसरे युवक पुष्यमित्रका सामयिक होगा। मगध-साम्राज्य पर आक्रमण करते समय मेनाण्डर डेमेट्रियसके साथ हो गया होगा और टार्नका[2] पक्ष कि उस आक्रमणका पूर्वमें मेनाण्डर नेतृत्व कर रहा था और पश्चिमके नेता थे डिमेट्रियस और एपोलोडोटस जो दोनो दिशाओंमे कैंचीके फलोके समान चलकर पाटलिपुत्रमें मिले, सत्य हो सकता है। स्पष्ट ही इस घटनाकी ओर सकेत करते हुए पतजलि एक उदाहरणमें साकेत और मध्यमिकाके अवरोधोंका एक साथ (अरुणद्यवनः साकेत। अरुणद्यवनः मध्यमिकाम्) उल्लेख करते हैं, इसमे भी उक्त निष्कर्ष की पुष्टि हो सकती है। यह एक अर्थपूर्ण विपय है कि किस प्रकार उन दो घेरोंमेंसे एक अवधमें और दूसरा राजपुतानेमें चित्तौडके पास एक साथ डाले जा सके यदि वे आक्रमणकारीकी सेनाके द्रुतवेगसे आगे बढनेवाले सैन्य-स्तम्भोंके स्वतत्र और व्यूहचातुर्यसे सम्बन्धित दस्तोंके अधीन दो पार्श्वों द्वारा नही चलाये गये। यह भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि पतंजलि और 'गार्गीसंहिता'[3] दोनो एक ही ग्रीक-आक्रमणका उल्लेख करते हैं क्योंकि

१ डब्ल्यू० डब्ल्यू० टर्न : ग्रीस इन वैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० १४०, २२५, २२६। २ वही, पृ० १४०। ३ जे० वी० ओ० आर० एस०, १४, ३, १९२८, पृ० ४०२, १.२२।

वाक्यांश 'प्रेक्षागृह'[1] में हमें रूपक या रंग-भूमिका संकेत मिलता है। तथापि तारानाथ इसके स्थानमें एक पृथक् वाचन 'वणप्रेक्षा' स्वीकार करते हैं जिसका अर्थ करते हैं, 'पात्रोंका विश्रामालय'।

नाटकाभिनयके पूर्व उसका अभ्यास होता था। अभ्यास या उपदर्शन के दिन, ऐसा प्रतीत होता है, प्रेक्षागृहके मांगलिक उद्घाटनार्थ ब्राह्मण-भोज किया जाता था जो 'मालविकाग्निमित्र'[2] द्वारा प्रमाणित होता है।

उपदर्शन या रंग-शालाके प्रथम उद्घाटनके अवसरपर ब्राह्मण-भोज एक निश्चित सामाजिक प्रथाका संकेतक है। जब कोई व्यक्ति किसी कला या शास्त्रकी दीक्षा लेता या किसी प्रकारके संस्थापन-संस्कारके अवसरपर अधिष्ठाता देवताके पूजन तथा दक्षिणाके रूपमें ब्राह्मणोंको भेंट देनेकी प्रथा प्राचीन कालमें प्रचलित थी। उस वाक्यांशका दूसरा वाचन 'नेपथ्यसेवन' है जिसका अर्थ है,' सांगीतिक प्रसादनके साथ यज्ञ' जो किसी नाटक-मण्डलीके उद्घाटित होनेके समय किया जाता था।[3]

कविने रंगभूमि तथा अभिनयका जो वर्णन दिया है उसका हम नीचे उल्लेख करते हैं। प्रथम भागके अभिनयपर अपना निर्णय घोषित करती हुई 'मालविकाग्निमित्र' की परिव्राजिका अभिनयका पूर्णतया विश्लेषण करती है और रूप-निरूपणके मुख्य अंगोंपर प्रकाश डालती है: "अभिव्यंजना के साथ मुखरित उसके अंगोंसे भाव पूर्णतया स्पष्ट हो रहा था; उसकी पदगति (पदन्यास) नितान्त समयके साहचर्यमें थी, भावुकता प्रदर्शन के साथ पूर्ण एकीकरण था; हस्त-संचालनसे व्यक्त अभिनय मधुर था, जब कि उत्तरोत्तर स्थितिमें पीछा किया जाता आवेग आधार-तलसे नवीन आवेगको उत्थित करता था, फिर भी रुचिमें अन्तर नहीं होता था।"[4]

---

१ वही, पृ० २१। २ प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या। माल०, पृ० ३०। महाब्राह्मण, न खलु प्रथमं नेपथ्यसेवनमिदम्। अन्यथा कथं त्वां दक्षिणीयं नार्चयिष्यामः वही। ३ वही, पृ० ३०। ४ माल०, २.८।

१८९ कनिंघम . एन्सियन्ट जूग्रफी
१९० कनिंघम : क्वाइन्स आफ एन्सियण्ट इंडिया
१९१ लूडर्स : लिस्ट आफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्सन्स
१९२ एस० बी० इ०, ११
१९३ फ्रेजर : हिमालयन माउन्टेन्स
१९४ वड्डेल : एमंग दि हिमालयाज
१९५ वेस्टर्न तिब्बत
१९६ वड्डेल : लासा एण्ड इटस मिस्टेरिज
१९७ कनिंघम . भिल्सा तोप
१९८ ग्रोजे : मथुरा
१९९ राप्सन . एन्सियन्ट इण्डिया
२०० राप्सन · इंडियन क्वाइन्स
२०१ एल० स्ट्रेंज : दी लैंड आफ दी इस्टर्न कलिफेट
२०२ वी० ए० स्मिथ · अशोक
२०३ वी० ए० स्मिथ : अर्लि हिस्ट्री आफ इंडिया
२०४ सर ऑरेल स्टीन . एन्सियन्ट खोतन
२०५ सर पी० एम० सीक्स . हिस्ट्री आफ परसिया, १
२०६ बौल : इकोनोमिक जियोलोजी आफ इंडिया
२०७ हौलडिच . गेट्स आफ इंडिया
२०८ रीस डेविड : बुद्धिस्ट इंडिया
२०९ सीले . इन्ट्रोडक्शन टु पोलिटिकल साइन्स
२१० जे० एलन · ए कटलाग आफ गुप्ता क्वाइन्स
२११ ओपर्टन . वेपन्स
२१२ जे० एफ० वेजेल : दि कटलाग आफ दि स्कल्पचर्स आफ दी आर्कियोलोजिकल म्युजियम, मथुरा
२१३ ब्राउन : दि क्वान्इस आफ इण्डिया
२१४ कोलेब्रूक : डाइजेस्ट आफ हिन्दू ला

'नेपथ्यपरिगता'[1] रंगमचपर लटकनेवाले एक परदेका सकेत करता है। परदेके लिए 'तिरस्करिणी'[2] शब्दका प्रयोग है। 'संहर्तम्'[3] से प्रति-विम्बित होता है कि एकसे अधिक परदोका प्रयोग होता था और अगला परदा लपेट लिया जाता था; क्योंकि राजा उसके लपेटे जानेकी बात कहता है अलग करनेकी नही। अतः रगमचपर ऐसे परदे थे जो रगमंचकी आवश्यकताके अनुसार लपेटकर ऊपर उठाये या गिराये जाते थे। रंग-मंचके निर्देशके एक अध्ययनसे उक्त बाते और भी स्पष्ट हो जाती है। 'प्रविशति आसनस्थो राजा'[4] वाक्यांशमें एक मच-निर्देश है जिसका सामान्य अर्थ है कि 'सिंहासनारूढ राजा रंग-मचपर अवतीर्ण होता है।' इसमें विरोधाभास है क्योंकि यदि राजा 'आसनस्थ' है तो उसके साथ 'प्रविशति' पद का प्रयोग नहीं हो सकता। काले एक विचार उपस्थित करता है कि इसलिए हम अवश्य मान लेते है कि रग-मचके साथ कुछ ऐसी व्यवस्था थी जिसके द्वारा परदा हटाया जा सकता था और विविध भाव-भगियोमें पात्र प्रेक्षकोंके सामने लाये जा सकते थे। कालिदासके नाटकोमे (भव-भूतिमें भी) हमे बहुधा यथोचित रग-मचके निर्देशोंके साथ ऐसी परिस्थि-तियाँ मिलती है जिससे लिपटे जानेवाले परदेका अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है, यदि हम उन परिस्थितियो और मच-निर्देशोको निरर्थक बनाना नही चाहते। 'प्रविशति'का इस प्रकार अर्थ होता है (बैठे हुए) उद्घाटित होता है' जब परदे लपेटकर ऊपर उठा लिये जाते है।

नाटकके पात्रो-द्वारा[5] भिन्न-भिन्न प्रकारके रूपानुकरणोंके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारके रंगमंचीय परिधान थे। कौशिकी कहती है; "मै एक निर्णायकके पदसे बोलती हूँ। दोनो शिष्य सूक्ष्म परिधानोमें प्रवेश करें जिसमें उनके समस्त अंग-सचालनकी सुन्दरता स्पष्टतया प्रकट हो सके।"[6]

१ वही, २.१। २ तिरस्करिणी वही, २.११; पटाक्षेपेण शा०, पृ० २०८; विक्र०, पृ० ११। ३ माल०, २.५। ४ शा०, पृ० १५०। ५ सर्वांगसौष्ठवः......विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः माल०, पृ० २२। ६ वही।

यह विशिष्ट परिधान रंग-मंचपर नृत्यका प्रदर्शन करनेवालेको दिया जाता था। रंग-मंचकी परिधान-शैलियोंमें एक था अभिसारिकापरिधान। उसके शरीरपर केवल एक-दो आभूषण होते और उसकी ओढनी नीली रेशमी[1] चादरकी होती।[1] वह उन आभूषणोंका परित्याग कर देती जिनसे चमक निकलती या जो शब्द करनेवाले होते। उसे काले वेशमें बाहर निकलना होता जिसमें उसको जाननेवाले उसे पहिचान न लें। आखेटक-वेशमें[2] एक तीसरे प्रकारका मंच-परिधानका संकेत हुआ है। राजाके शस्त्रोंकी रक्षिकाएँ और उसके अंगरक्षकोंकी प्रथम पंक्तिमें रहनेवाली यवनियाँ[3] एक विशिष्ट परिधान धारण करती थी जिससे रंग-मंचपर वे विदेशीके रूपमें पहचानी जा सकें। उसी प्रकार मानिनी या पतिके विरुद्ध व्यवहारके प्रति रोष प्रकट करनेवाली का अलग परिधान था और एतादृश विरहिणी, मुनिकन्यका या व्रतधारिणी[4] या पश्चात्ताप करनेवालीके[5] वेशका नाट्य करनेवालेके क्रमश भिन्न-भिन्न परिधान थे। तादृश प्रकार आखेटके लिए जानेवाला व्यक्ति एक विशिष्ट परिधान धारण करता जो जांगल वृक्षोंकी पत्तियोंसे मेल खाता होता जिसमें उसका शिकार उसको उनसे भिन्न न समझ ले। उसका अनुसरण जालवाही व्याध और शिकारी कुत्तोंके[6] यूथ करते रहते थे। अतएव प्रत्येक पात्रका अपना अलग परिधान था। राजाका अपना वेश था, विदूषक अपने 'कंचुक' तथा 'वेत्र' से पहचाना जाता था, मुनि वल्कलधारी थे, उसी प्रकार शकुन्तला तथा दूसरी मुनि-कन्यकाएँ भी वल्कलधारिणी थी और रंग-मंचके सभी अन्य पात्रोंके अपने परिधान थे।

इस प्रकार उत्कृष्ट नाट्य वस्तुओंको रंगमंचपर लाते समय पटों, उपयुक्त परिधानों तथा अपूर्व रूप-निरूपणके साथ कालिदासका रंगमंच

१ नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेषः विक्र०, ५.६८। २ अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेशम् शा०, ५.६८। ३ वही, पृ० २२४। ४ वही, ७.२१। ५ विक्र०, ३.१२। ६ रघु०, ९.५०–५१।

प्रेक्षागृह-सम्बन्धी कलामें अतीव विकसित अवस्थाका चित्रण उपस्थित करता था।

संगीत

संगीतका अध्ययन दो शीर्षकों, लौकिक तथा सैद्धान्तिकमें किया जा सकता है। हमारे पास दोनोंके अनेक संकेत हैं किन्तु सैद्धान्तिक संगीतका विस्तार रूपसे वर्णन किया गया है।

लौकिक संगीतका अभ्यास केवल महिलाएँ करती थीं। आज की तरह घरपर बिना कोई नियमित शिक्षा पाये वे समयके प्रवाहमें इसको अपना लेती होंगी जहाँ उन्हें कंठ-संगीतकी सहायताके लिए कदाचित् ही किसी वाद्य-यंत्रकी आवश्यकता होती थी। उत्सवके अवसरोंपर अवसर के अनुकूल प्राचीन पारम्परिक गीतोंके अभ्यास तथा अपने कुछ नवीन परिचितोंसे नवीन गीत सीखनेका उन्हें पर्याप्त सुयोग प्राप्त होता था। वे विवाहके समय मांगलिक गान तथा खेतोंकी उपजकी रखवाली करते यश और कीर्तिके गीत[1] गाया करती थीं। नदीमें स्नान करती हुई वे गातीं और अपने मधुर संगीत[2] के ताल पर पानी पर थपकियाँ देती थीं।

सद्धान्तिक संगीत[3] के सम्बन्ध में 'मालविकाग्निमित्र'में विचारसे विवेचना की गई है। हम षडोपकरणोंसे समन्वित गीतके सम्बन्धमें पढ़ते हैं। कविने इन उपकरणोंकी विशेष रूपसे गणना नहीं की है।

संगीत ध्वनिसे नगर प्रतिध्वनित होते थे और इसका उदाहरण हमें कुबेर-नगरीके वर्णनमें मिलता है। मृदंगके सदृश वाद्य-यंत्रोंके स्वरसे अलकापुरी गूँजती हुई वर्णित है जो स्पष्ट ही निपुण रमणियों[4] द्वारा वादित थे। यह निर्वासित यक्षकी पत्नी है जो अपने पतिकी अनुपस्थितिमें अत्यन्त दुःखके कारण वाद्य तथा कंठ्य सभी प्रकारके संगीतोंकी ओर प्रयत्न करती है किन्तु पराजित हो बैठती है। अपने जघनों पर वीणाको रखकर उसके

१ रघु०, ४.२०। २ वही, १६.६४; वही, ६२, वही, १३। ३ अंक १ और २। ४ मेघ० उ०, १।

राज-परिवारके तीव्रबुद्धि शिष्योंको संगीत, नृत्य, नाट्य तथा चित्रकला की वैज्ञानिक तथा सैद्धान्तिक शिक्षा देते थे। यह संगीत-शाला जो एक विद्यालयके समान दीख पड़ती है, राजकीय हर्म्यके निवासियोंके लिए थी। यह राज्य-खर्चसे चलती थी और इसके शिक्षकोंको नियत वेतन[१] मिलता था। कवि एक संगीतरचना या संवादनका[२] संकेत करता है। संगीतशालाके अध्यापकों-द्वारा सांगीतिक संवादन आयोजित किया जाता था जिसमें उनकी एवं उनके शिष्योंकी वादन-कुशलता परीक्षित होती थी। सुतरां मालविकाग्निमित्रमें वर्णित संवादन एक षड्यंत्रका परिणाम था। संगीतशालामें नियमित वर्ग लगते प्रतीत होते हैं और शिष्याओंको[३] पाठ दिये जाते और उनसे सुने जाते थे।

उक्त संगीतशाला-सी संस्था ही थी जो हमारी महिलाओंको 'मालविका'[४], 'परिव्राजिका'[५] और 'शर्मिष्ठा'[६] के सदृश संगीत और नाट्य की ललित कलाओंमें निपुण बनाती थी। आरम्भिक युगोंमें शर्मिष्ठाने संगीतमें अनुपम दक्षता प्राप्त की थी। नाट्यके एक समीक्षणमें[७] उसकी रचना (छलिक) को देनेमें संगीत-कलाकी उसकी साधनाओंकी ओर संकेत कविने किया है। शर्मिष्ठाका निबन्ध चार भागवाली एक रचना है जिसके मध्यमें समय आश्रित[८] है। यह उद्धरण संयोगवश एक नारी-द्वारा रचित संगीतकलात्मक निबन्धकी विद्यमानता उपस्थित करता है। शर्मिष्ठाका उल्लेख अभिज्ञानशाकुन्तलमें[९] भी हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि उसने कई संगीतांगोंका निर्माण किया है और संगीत सम्बन्धी कुछ नियम बनाये हैं।

---

१ वेतनदानेन मा०, पृ० १७। २ वही, पृ० २२। ३ संगीतव्यापारमुज्झित्वा विक्र०, पृ० २७। ४ परमनिपुणा-मेधाविनी चेति, आदि, माल०, पृ० ८। ५ पण्डितकौशिकी वही, पृ० १६। ६ वही, पृ० २१.२४; शा०, ४.६। ७ तस्यास्तु छलिकप्रयोगं माल०, पृ० २४; छलिकं नाम नाट्यं वही, पृ० ४.२-६।

मुरजके[1] साथ मृदंग,[2] तूर्य,[3] शंख,[4] दुन्दुभी[5] और घंट[6]। इनमें अन्तिम तीनका उपयोग अधिकतर युद्धमें होता था। युद्धका आरम्भ तथा अन्त शंख-ध्वनिके साथ होता था; युद्धके अन्तमें जब शंख बजाया जाता तो इसकी ध्वनि बजानेवालेकी[7] विजयकी घोषणा करती। मंगलप्रदर्शन[8] के लिए भी इसको फूका जाता था। तथापि तूर्य शान्ति तथा युद्ध[9] दोनोंका वाद्य-यंत्र था। वेणु वंशी थी; मृदंग, पुष्कर और मुरज ढोलके प्रकार थे; तूर्य एक प्रकारकी तुरही था और दुन्दुभी एक प्रकारका सींगा। शंख भी था।

कालिदास एक अच्छे संगीत-पारखी थे और भारतीय संगीतकी राग-रागिनियोंके ज्ञाता थे। पदान्वित तथा गेय गीतोंका या रागोंका वे उल्लेख करते हैं। संगीतके सूक्ष्म-शास्त्रके[10] सिद्धान्तके अपने अध्ययनके संकेत यत्र-तत्र उपस्थित करते हैं। उनकी नारियोंका वीणाके साथ निरंतर साहचर्य है। तथापि यह विचित्र-सा लगता है कि वे रागोंका कोई विशिष्ट संकेत नहीं करते।

नर्त्तन

अति प्राचीन कालसे भारतमें नृत्य[11] या नर्त्तनका अभ्यास होता रहा है। कालिदासके कालमें यह अपने विविध अंगों तथा विस्तारोंके साथ उन्नतिकी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। उनकी तथा उनके बहुत पूर्वकी रचनाओंमें भी रंगमंचके अभिनयके साथ नृत्य रहता आया है। नाट्यके दो शिक्षकोंके अभिनय-प्रदर्शनके सम्बन्धमें निर्णय देती हुई

---

१ रघु०, १९.१३; मे० उ०, ३; माल०, १.२२। २ कु०, ६.४०; मे० पू० ५६; उ०, १; माल०, १.२२। ३ रघु०, ३.१९; ६.९, ५६, १०.७६, १६.८७; विक्र०, ४.१२। ४ रघु०, ६.९; ७.६३, ६४; कु०, १.२३। ५ रघु०, १०.७६। ६ वही, ७.४१। ७ वही, ६३.६४। ८ वही, ६.९, १६.८७। ९ वही, ३.१९, ६.९, १०.७६। १० काकलिगीत (सूक्ष्मकला—भाष्यकार) रघु०, १.८। ११ विक्र०, ४.१२; मे० पू०, ३५।

नीचे लिखे आधारों पर श्री एस० पी० पंडित के नेतृत्वमें कुछ विद्वानों द्वारा विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अंकमें आनेवाले बहुसंख्यक प्राकृत-उद्धरण प्रक्षिप्त कहे गये हैं। (१) श्रीयुत पंडित द्वारा संग्रहीत आठ पांडुलिपियोंमेंसे छः में वे नहीं हैं। (२) काटयवेमकी आलोचनात्मक सूक्ष्मदर्शिताका एक भाष्यकार उनसे परिचित नहीं हैं। (३) एक द्रविड़-पांडुलिपि पर आधारित विक्रमोर्वशीयका डा० पिस्केलवाला संस्करण उनका उल्लेख नहीं करता। (४) राजा, जिसको उत्तमपात्र होनेके कारण केवल संस्कृत बोलना चाहिए था, क्रमशः दो भाषाओंका प्रयोग करता है। यह अस्वाभाविक होगा। (५) संस्कृत-वाक्योंके बाद आनेवाले प्राकृत-वाक्य पुनरुक्तसे हैं। राजाकी स्वगतोक्तिमें आते हुए भी उनमेंसे अनेक, स्पष्टतया उसकी ओर संकेत न करके अन्य पुरुषमें उसकी स्थितिमें पड़े किसी व्यक्ति-विशेषको लक्ष्यकर निरर्थक और भ्रामक निर्देश करते हैं। (७) वे निष्प्रयोजन हैं और बहुतसे संस्कृत-वाक्योंसे अभिव्यक्त भावोंके स्वच्छन्द प्रवाहको अवरुद्ध कर देते हैं। (देखिये, पंडितवाला संस्करण, पृ० ८-९। कालेका संस्करण, टिप्पणियाँ, पृ० ९२)।

उक्त आधार इतने सबल हैं कि प्राकृत उद्धरणों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। तथापि उनमें सांगीतिक कई राग तथा लय और असंख्य नृत्य-भंगिमाओं सम्बन्धी रंगमंचीय निर्देश हैं और उनको यहाँ, इस पाद-टिप्पणीमें संदर्भित करना अनुचित नहीं होगा।

राग, साधारण अर्थमें, एक सांगीतिक स्वर, संवाद, माधुर्य है। किन्तु हिन्दु-संगीतकी अपरकालीन शैलीमें इसका और भी विस्तार हुआ है। वहाँ यह ध्वनि या गुरकी विशिष्ट सांगीतिक शैली या क्रम है। भरत छः का नामोल्लेख करते हैं, यानी भैरव, कौशिक, हिंडोल, दीपक, सूराग और मेघ—प्रत्येक राग किसी-न-किसी स्नेह-भावको प्रेरित करता है। अन्य लेखक अन्य नाम देते हैं। कभी-कभी ७ या २६ रागोंका उल्लेख किया जाता है। उनको मानुषी रूप दिया जाता है और छः मुख्य

रागोंमेंसे प्रत्येकका वैवाहिक सम्बन्ध ५ या ६ पत्नियोंके साथ होता है जो रागिनियाँ कहलाती हैं। उनके सम्बन्धसे असंख्य दूसरे रागोंका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार रागिनी रागका कोमल रूप है। कोई ३५ या ३६ रागिनियोंकी गिनती होती है। 'नृत्य', 'गान' तथा 'वाद्य' का सामंजस्यपूर्ण समन्वय 'लय' है (अमरकोश कहता है—लयः साम्यम्)। लयका दूना द्विलय है। लय, काल, एक तौल तीन प्रकारका है—द्रुत (शीघ्र), मध्यम (साधारण) और विलम्बित (मन्द)। द्रुतो मध्यो विलम्बितश्च लयः। (स त्रिविधो मतः—भाष्यकार)।

नीचे लिखे प्रकारके सांगीतिक रागों और नृत्यका उल्लेख हुआ है। आक्षिप्तिका, जो एक प्रकारका गीत है जिसको, रंगमंच पर पात्रके पहुँचनेके समय, नृत्य तथा हाथ-द्वारा तालोंके साथ गाया जाता है (भरत इसकी परिभाषा करते हैं—चञ्चत्पुटादितालेन मार्गत्रयविभूषिता। आक्षिप्तिका स्वरपदग्रथिता कथिता बुधैः); द्विपदी, जो एक गान-प्रकार है और इसके चार भेद हैं, यानी, शुद्धा, खण्डा, मात्रा और सम्पूर्णा (शुद्धा खण्डा च मात्रा च सम्पूर्णेति चतुर्विधा। भरत); जम्भालिका, अन्य प्रकारका गीत है, जिसका प्रत्येक पद एक या दो बार गाया जाता है और कोरस तथा दूसरे चरणके बीच कोई प्रतिबन्ध नहीं होता; खण्डधारा, जो संगीतका, राग और एक प्रकारकी क्रीड़ा दोनों है (रागेण क्रीडनेन च); चर्चरी जो एक राग है जिसको प्रेमके प्रभावमें पात्र या पात्री गाती है और उसका लय मन्द, मध्यम या तीव्र होता है (द्रुतमध्यलयसमाश्रिता पठति प्रेमभरान्नटी यदि। प्रतिमण्ठकरासकेन या द्रुतमध्या प्रथमा हि चर्चरी॥ भाष्यकार); भिन्नक, रागविशेषका नाम है; खण्डक या खण्डिका, जो एक प्रकारका गीत है जो विशिष्ट भाव-प्रदर्शनके साथ गाया जाता है; खुरक, एक विशिष्ट नृत्य है (पठमं जरिरागसंयुतं यद् द्रुतमध्यलयेन यत्प्रयुक्तम्। प्रतितालयुतं च नर्तनम्॥); वलन्तिका, एक प्रकारका राग है जो एक विशेष आंगिक भाव-व्यंजनाके साथ गाया जानेवाला है; ककुभ, भी एक राग था (मध्यमा-

२

उस प्रकारका नृत्य है जिसमें नर्त्तक दूसरेके रूपका अनुकरण करता हुआ अपने अन्तर्भावोंका व्यक्तीकरण करता है।

संगीतके सदृश ही नृत्य-कला भी वेश्याओंके समान पेशेवरों-द्वारा जीवित रखी गई जिनका यदा-कदा उल्लेख हुआ है। उज्जयिनीके महाकालके मन्दिरमें उनके नर्त्तकियोंके रूपमें नियुक्त होनेकी ओर हम संकेत कर आये हैं। नाचनेवालियाँ, नर्तकी[1] और वाणिनी, पेशेवर नर्तन का व्यवसाय करती थी।

पञ्चमो धैवत्युद्भवः); उपभंगा, गीतके कई अंग हैं; कुटिलिका और मल्लघटी नृत्यके प्रकार हैं जिनमें पहली रागकी सहायताके बिना ही किन्तु एक विशिष्ट अंग-स्थिति तथा अर्द्धमत्तली नामक भाव-प्रदर्शनके साथ नर्तित होती है (अर्द्धमत्तली अंगस्थितिका भाष्य किया गया है—उपेतापसृतौ पादौ वामश्चेद्रेचितः करः। कट्यामन्यः); गलितक, एक अन्य प्रकारका नृत्य और भाव-प्रदर्शन है। इनके अतिरिक्त चतुरस्रक, अर्द्धचतुरस्रक, स्थानक और वामकके सदृश असंख्य नृत्यकी अंगस्थितियों तथा नाट्यके भाव-प्रदर्शनोंका उल्लेख है और घुटनोंपर उत्पतनके साथ नर्तन-क्रिया (जानुभ्यां स्थित्वा) या कर-तलबद्धतापूर्वक अभिनय का भी समावेश स्पष्ट है।

१ रघु०, १६.१४, १५, १६।

होते थे। उनकी शृंगारकी वस्तुएँ व्यंजना और भावमें बिल्कुल आधुनिक थीं। जिन अंगरागोंका वे व्यवहार करती थीं वे पेरिसकी स्त्रियोंकी मूर्तियोंको अपने चित्रमय रागानुलेपन और सुगन्ध-चूर्णोंसे नित्य-नवीन रखनेमें समर्थ है। वे पद-तलको[१] लाक्षाराग (एक प्रकारका लाल रंग जो एक पेड़ की राल तथा एक कीड़ेसे प्राप्त होता है) से रंजित करतीं, ललाटपर कस्तूरीका काला[२] तिलक लगातीं और उसको अंजन[३] बिन्दुओंसे अलकृत करती थीं। अपने मुखपर रंग-बिरंगी बिन्दकियाँ भरतीं।[४] कपोल छोटी छोटी पत्तियोंकी[५] आकृतियोंसे सुशोभित किये जाते। आँखोंमें अंजन[६] डाला जाता और 'आलक्तक' रागसे अधर लाल होते। फिर रक्त अधरो पर लोध्र-रेणुओंको[७] मला जाता जिससे वे पीताभ लोहित वर्णके हो जाते। इस प्रकार अपनेको सुन्दर बनाने और सुरुचिशालिनी महिला प्रकट करनेके लिए स्त्रियाँ अलंकरणकी कई शैलियाँ काममें लाती थीं।

चित्रकला

चित्रकला और पृष्ठभूमि, चित्रण तथा भित्ति-चित्रोंके विविध अंगोंके बहुसंख्यक संकेतोंसे यह निस्सदेह सिद्ध होता है कि कवि-युगने इस कलामें आश्चर्यजनक उन्नति की थी। हम शीघ्र ही देखेंगे कि वह चित्रित दीवार, दरवाजे और गृहके भीतरी भाग, रात्रिमें आसपासमें भरी प्रभावती बूटियोंसे प्रकाशित पर्वत-गुहाएँ, राज्यकी सहायतासे संचालित चित्र-भवन (चित्र-शाला, विद्यालय), नर-वानरके चित्र-पट, मनोहर पृष्ठभूमि, रम्यतापूर्ण आयोजित चित्र-भूमिकाएँ, रंग वैविध्य, आलेख्य पट तथा तूलिका-मंजूषाके संकेत करता है।

मालविकाग्निमित्रमें[८] उल्लिखित 'चित्रशाला'[९] संगीतशाला'का एक अंग थी। संगीतशालामें संगीत, नृत्य तथा अभिनयकी शिक्षा दी जाती

---

१ वही। २ वही। ३ वही। ४ वही। ५ पत्रविशेषक पत्रलेख वही। ६ वही। ७ वही। ८ चित्रशालां गता देवी माल०, पृ० ५। ९ वही।

थी। वहाँ चित्र-वीथी भी होती थी जहाँ चित्र[1] लटकते रहते और भाँति-भाँतिके रंग बनाये जाते और प्रयुक्त होते थे। ऐसी ही एक चित्रशालामें राजमहिषी धारिणी जाती है जहाँ वह एक चित्रकी प्रशसा करती है जिसके रग अभी सूखे[2] नहीं है।

भित्ति-चित्रकला

निवास-गृहोंमें[3] भित्ति-चित्र उस युगकी सामान्य विशेषता थी। कालिदासने उनके असख्य सकेत किये हैं। गिरि-गह्वरोंके शिला-चित्रोंके उदाहरणोंको ये अच्छी प्रकार प्रकट कर सकते हैं जिनमेंसे शतशः पश्चिमी घाटकी श्रेणियोंमें बिखरे पड़े हैं। भित्ति तथा शिलाचित्रोंके पुन. पुन. उल्लेख सबलताके साथ बतलाते हैं कि कविने स्वय उनका ज्ञान प्राप्त किया था, और उनको देखा भी था। अजन्ताकी प्रसिद्ध गुफाएँ, जिनमें कुछ ई० पू० दूसरी शतीमें काटी गई थीं, विद्यमान थीं। बादकी गुफाएँ, जिनमें बहुसख्यक ई० सन्‌के प्रारम्भ तथा पश्चात्‌की हैं, कविकालसे केवल कुछ शताब्दी पूर्व ही काटी गई थी। सम्भव है, बादकी कुछ गुफाएँ उस युगमें ही कटी हो जिसको उसने अपनी विद्यमानतासे अलकृत किया था और यह भी सम्भव हो सकता है कि उसने अजन्ताके द्युतिमन्त भित्ति-चित्रोंको कई बार जाकर देखा हो जब उनमें अनेकोंपर तूलिकाएँ अन्तिम बार रग भर रही थीं।

हमें चित्रोंसे सजायी जाती प्रासाद तथा गृहोंकी[4] दीवारोंके पाठ मिलते हैं। जब गृह उच्च शिलाओंपर[6] स्थित होते तो उनके आगनको[5] चित्रित करनेवाले चित्र वातायनोंसे प्रविष्ट बादलों-द्वारा कभी-कभी

---

१ वही। २ प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखां वही, पृ० ५। ३ सद्मसु चित्रवत्सु रघु०, १४ १५, २५; सचित्राः प्रासादाः मेघ० उ०, १.१७। ४ आलेख्यशेषस्य रघु०, १४.१५, सद्मसु चित्रवत्सु २५, सचित्राः प्रासादाः मेघ० पू० १, विमानाग्रभूमिरालेख्यानाम् ६, द्वारोपान्तोल्लिखित वपुषे ... रघु०, १६.१६। ५ मेघ० उ०, ६।

नम[1] और भद्दा कर दिये जाते थे। यह स्पष्ट नहीं है कि ये भित्ति-चित्र थे या आंगनके पृष्ठ-तलपर ही अंकित भू-चित्र थे। किन्तु क्योंकि आँगन के सहनका मणिभाके समान स्वच्छ होनेके संकेत बहुलतासे हमें प्राप्त होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि सांकेतित चित्र आँगनकी दीवारोंपर अंकित थे। गृहके सिंह-द्वारपर चित्रित थे शुभ-सूचक इन्द्रधनुष,[2] कमल और शंख।[3] ऐसे भित्ति-चित्र भी थे जिनमें केलि-तड़ागोंके चित्रण थे, जिनमें हाथी थे जिनको फैले हुए कमल-वनमें प्रवेश करते समय हथिनियाँ[4] कमल-दण्डोंके खण्ड भेंट करती थीं। यह चित्र एक मनोरंजक भित्तिचित्र है क्योंकि इसके बिलकुल अनुरूप अजन्ताके गुफा सं० १७ में एक भित्ति-चित्रको देखकर विस्मित रह जाना पड़ता है।

हमें आलिखित तथा रागान्वित प्रतिकृतियोंके[5] बहुतसे उल्लेख[6] मिलते हैं। हम पढ़ते हैं कि एक पतिवियुक्ता पत्नीके स्मृति-पटलपर उसके पतिकी जो मूर्ति विद्यमान (भावगम्यम्)[7] है वह उसकी[8] प्रतिकृति चित्रित करनेके

प्रतिकृति

मधुर कार्यमें अपनेको लगा रही है। मेघदूतके यक्ष ने एक प्रस्तर-खण्डपर गेरूसे अपनी पत्नीका आलेख्य मानिनी पत्नीके[9] रूपमें बनाया था। विक्रमोर्वशीयमें[10] उर्वशीकी प्रतिकृति बनाये जानेकी बात आई है और मालविकाग्निमित्रमें[11] मालविका एक प्रतिकृतिमें

---

१ वही। २ सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन वही, १५। ३ वही; १७। ४ रघु०, १६.१६। ५ माल०, २.२, पृ० ५.६, १२, ७३; रघु०, १८.५३; मेघ० उ०, शाकु०, पृ० १९९, २००, २०८, २१०, २१८, ६.१८, ३०, पृ० २१३–१४; विक्र०, पृ० ४२। ६ प्रतिकृति रघु०, १८.५३; शाकु०, पृ० २००, २१८; माल०, पृ० १२, ७३; विक्र०, पृ० ४२। ७ मेघ० उ०, २२। ८ मत्सादृश्यं भावगम्यं लिखन्ती वही। ९ प्रणयकुपितां वही, ४२। १० पृ० ४२। ११ पृ० ५।

निप्पादन[1] प्रशसनीय है । एक सम्मिलित प्रतिकृतिमे शकुन्तला खड़ी है, उसके केश-पाश ढीले पड़ गये है और बालोमें गूथे पुष्प गिर पड़े है और श्रम-कण उसके मुखकी सुन्दरता बढ़ा रहे है । चित्रमे एक नये पल्लवोवाले आमके वृक्षके नीचे शकुन्तला खडी है और उसके पास है उसकी सखियाँ[2] । दूसरा सम्मिलित चित्र है मालविकाका,[3] जो परिचारिकाओंसे[4] घिरी रानीके पास खड़ी है ।

सम्मिलित चित्रकला

उपर्युक्तके अतिरिक्त कालिदास योजना तथा कल्पनामे अपना नैपुण्य प्रदर्शित करनेवाली पृष्ठभूमिका उल्लेख करते है । एक चित्रका, जिसके बनाये जानेकी इच्छा प्रकट की गई है, काल्पनिक आलेख इस प्रकार है : "चित्रमें मालिनी बह रही हो, उसके वालुकामय किनारोपर हंसोंके जोडे बैठे हो; उसके दोनो पार्श्वोपर हिमालयकी पवित्र आसन्न पहाडियाँ चित्रित हो; शिलाखण्डपर बैठे हो 'मृग-शावक', और एक वृक्षके नीचे उसकी शाखाओपर वल्कल टँगे हो । मै एक कृष्णसारकी सीगपर एक हिरणीको अपनी बायी आँख खुजलाती चित्रित करना चाहता हूँ ।"[5] यहाँ एक विशिष्ट आलेख है जिससे एक पूर्ण भौमिक दृश्य चित्रित किया जा सकता है जिससे यह अच्छी प्रकार स्पष्ट होगा कि चित्रकला किस कोटितक पहुँची हुई थी । दूसरा संकेत एक सम्भव भौमिक दृश्यको प्रति-बिम्बित करता है जिसमें तूलिकाके[6] स्पर्शके फलस्वरूप आकाशमे असख्य रंग-बिरंगी मेघ-मालाओंके साथ संध्या प्रदर्शित है ।

अब हम चित्रकलाके टेकनिक पर विचार करें । चित्रकारीके लिए कालिदास इन वस्तुओकी आवश्यकताका उल्लेख करते हैं—'शलाका',[7]

---

१ सर्वाश्च दर्शनीयाः वही; पृ० २०९ । २ सख्याविति वही; २०९–१० । ३ चित्रगतामा....आसन्नदारिकां माल०, पृ० ५. अपूर्वेयं ... आलिखिता । ४ वही, पृ० ५ । ५ शाकु०, ६.१७ । ६ कुमा०, ८.४५ । ७ कुमा०, १.४७, २४; रघु०, ७.८ (विभिन्न कार्यों के लिए प्रयोग)

चित्रकलाका इतना अधिक प्रचार था कि इसका अनुशीलन अरण्यों में भी पहुँच गया था जहाँ मुनिकन्याएँ तपोवनोंमें इसका अभ्यास करती थीं। हम पढते है कि जब शकुन्तला पति-गृह जानेके लिए कण्वका आश्रम छोड़नेकी तय्यारी कर रही थी, ऋषि-कन्याएँ, जिन्होने कभी सुवर्णाभरण पहने किसीको नही देखा था, चित्रकलाकी[1] अपनी जानकारीसे आभूषणों के पहने जानेका उचित प्रकार जान सकी और उसी क्रमसे शकुन्तलाके अंगोमे यथास्थान उनको पहना सकी।

चित्रकलाका अनुशीलन केवल मनोरंजनके लिए नहीं था और कालिदास इसको इतना आवश्यक बतलाते है जितना योगाभ्यास। एक शिल्पीके[2] लिए यह आवश्यक कहा गया है कि मूर्ति-निर्माण आरम्भ करनेके पूर्व उसे अपनी प्रतिपाद्य मूर्तिके ध्यानमे लीन होकर पर्याप्त काल तक अवश्य बैठना चाहिए। उसकी ध्यानावस्थामे स्वप्नरूप जब उसी प्रकारकी आकृति जैसा वह बनाना चाहता है उसके सामने आ खड़ी हो तो तभी उसे अपनी छेनी-हथौडी अपने हाथमें लेना चाहिए। यदि रचना असफल होती है, तो इसका अर्थ है कि कलाकारकी समाधिमें शैथिल्य रहा है। कालिदास बिलकुल उन्ही शब्दोंका प्रयोग करते है और मालविकाग्निमित्र[3]की रचनाका आरम्भ करनेके पूर्व कलाकारकी रचनाका आरम्भ करनेके पहले कलाकारमें ध्यानावस्थित होनेकी कमीका उल्लेख करते है। राजाने मालविकाको एक सामूहिक चित्रमें देखा है। उसकी अलौकिक सुन्दरतापर वह मुग्ध हो जाता है। उसका असामान्य सौंदर्य उसको विस्मित कर देता है और उसे सन्देह होता है कि

---

१ चित्रपरिचयेनाङ्गेषु शाकु०, पृ० १३१। २ योग एवं समाधिमें योग-दानकी शक्ति प्रतिमाकी विशेषता है। अतएव प्रतिमाओंके मानव स्रष्टाओंको ध्यानशील होना चाहिये। ध्यानके अतिरिक्त प्रतिमाके स्वरूप-ज्ञानका अन्य कोई साधन नहीं—साक्षात्कार भी (कारगर नहीं)—शुक्रनीति, अध्यय ४. खण्ड. ४. १४७–५०। ३ शिथिलसमाधि माल०, २.२।

कदाचित् चित्रकारने अभिव्यजनामे इसे अपरूपता दे दी है। किन्तु जब मालविका स्वय आकर उसके सामने खडी हो जाती है और उसकी आकृति की सुन्दरता उक्त प्रतिकृतिसे कही उत्कृष्ट होती है, तो राजा चकित होकर बोल उठता है · "जब वह मेरे लिए केवल एक चित्र थी मेरे मनको आशंका होती थी कि उसका (वास्तविक) सौंदर्य कदाचित् चित्रित रूपकी तुलना न कर सके, किन्तु अब मै सोचता हूँ कि जिस चित्रकारकी तूलिकाने उसके रूपलावण्यको चित्रफलकपर अकित किया उसकी समाधिमे कितनी शिथिलता थी।"[1] 'शिथिलसमाधि' पद कलाकारमे ध्यानकी शिथिलता का सकेत करता है जिसके कारण उसके शरीरकी मनोहारिता और प्रतिकृतिकी सुन्दरतामें इतनी भिन्नता हुई।

चित्रकलाके उपर्युक्त उपकरणो और उत्कृष्ट कल्पनासे युक्त चित्रणके सुश्लिष्ट सिद्धान्तोंके साथ भारतीय कलाकार मानवी मनोभाव तथा अनुभूतियोको पूर्णरूपेण अभिव्यजित कर सका।

तुलनात्मक दृष्टिसे भास्कर्यकलाके सकेत कम है, किन्तु भारतके सग्रहालयोमें आजकल प्रदर्शित बहुसख्यक मूर्तियोंसे सम्बद्ध कल्पनाओंको

भास्कर्य-कला

सम्मोहन देने और स्थूल चित्र उपस्थित करनेवाले बीसो वाक्याशो-द्वारा कवि भास्कर्यकलाके क्षेत्र मे अपने कालकी प्रवृत्तियोको अप्रत्यक्षत· प्रतिध्वनित करता है। हम पहले उन सकेतोका उल्लेख करेगे जिनका सीधा सम्बन्ध भास्कर्य-कलासे है। एक प्रासादके भागोका वर्णन करता कवि कहता है "मयूर रात बीतने पर निद्रालु होनेके कारण, अपने अड्डोपर शिथिल हो बैठते हैं मानो वे मूर्तित आकृतियाँ हो।"[2]

रगोमें चित्रित उत्कीर्ण मूर्तियोका यहाँ एक सदर्भ है। मथुरा-सग्रहालयके भास्कर्य-कलाके प्रदर्शनोमें उक्त दोनो सकेतोंके उत्कृष्ट

उदाहरण है। गोलार्द्धमें उत्कीर्ण मयूरकी एक सुन्दर मूर्ति वहाँ सुरक्षित है।[1] उसी प्रकार रेलिंग-स्तम्भोपर उत्कीर्णित 'कृपाण पक्षियों' की मूर्तियाँ सग्रहालयके एक पूरे विभागमे भरी पडी है, जो पुरातन मथुराकी चित्रशालाओंमें रूप पाई और बनी कलाकी सर्वोत्तम कृतियोंकी सकुलता प्रदान करती हैं। उपर्युक्त वर्णन किसीको यह विश्वास दिलानेको पर्याप्त हो सकता है कि कोई भी कवि चाहे वह कितना भी महान् क्यो न हो और उसकी कल्पना कितनी भी समृद्ध क्यो न हो हमारी अन्तर्दृष्टिमे ऐसा शालीन दृश्य नही ला सकता था जब तक वह स्वय प्राचीन मथुराके इन मूर्तियोंके आश्चर्योंसे प्रभावित न हुआ हो। यह निष्कर्ष निकालनेके लालचका संवरण नही किया जा सकता कि कालिदास मथुरा गये थे और इन रेलिंग-स्तम्भोंको उन्होने देखा था और उनकी रचनाके विशिष्ट विषयोंका भी अवलोकन किया था जो आज मथुरा-सग्रहालयके गौरवका विषय हो रहे है। भरहुत के विस्मयकारी नमूनोमे प्राचीन प्रकारके रेलिंग-स्तम्भ देखे जा सकते है। पुन: कवि गगा तथा यमुनाकी चामरवाहिनी[2] मूर्तियोका उल्लेख करता है।

रेलिंग-स्तम्भोंपर उत्कीर्ण नारी-मूर्तियाँ

उत्कीर्ण शब्दका अर्थ है 'खोदकर बनाया हुआ' कदाचित् पृष्ठभूमिपर मूर्ति-निर्माण (Basso Reticro)। रघुवंशमे उजड़ी अयोध्या के वर्णनमें हम स्तम्भोपर उत्कीर्ण नारी-मूर्तियो के सम्बन्धमे पढते है, जो स्पष्ट ही राजमहलके रेलिंग-स्तम्भ थे। कवि कहता है, "स्तम्भो पर उत्कीर्ण नारी-मूर्तियोंके, जो धूल-धूसरित हो गई है और जिनके रगकी

उत्कीर्ण मयूर

---

१ स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥रघु०, १६.१७। २ मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन नं० ४६६, मिलाकर मयूर पर कुमारी, वही, १० R १०४।

रेखाएँ मिट-सी गई है, स्तनोंके संसर्गमें आकर कृष्ण सर्पोंने जो केंचुलियाँ छोड़ी है वे उनके स्तनोंको ढँकनेके उत्तरीय हो रही है।"[1]

गंगा और यमुना की मूर्तियाँ

मूर्तिकलामें देवताओंकी चामरवाहिनीके रूपमें इन दो नदी-देवियोंकी मूर्तियोंका आरम्भ और कुषाण-कालीन तथा पूर्व गुप्तकालीन कलाकी स्थितियोंका परिचायक है। गंगा और यमुना मकर और कच्छपकी पीठपर खड़ी है, जो उनके क्रमशः चिह्न है और जिनका उनके जलमें बाहुल्य है, और चँवर डुलाती है या यों ही लिये है। मथुरा-संग्रहालयमें ऐसी मूर्तियाँ पायी गई है और प्रदर्शित हुई है। दूसरा नमूना एलोरामें देखा जा सकता है। बौद्ध धर्मकी प्रधानताके पश्चात् साम्राज्यवादी गुप्तोंके नेतृत्वमें हिन्दू-पुनरुत्थानसे कला तथा भास्कर्यमें भी ब्राह्मणिक नवजागरण आया था, और बौद्ध-प्रतिमाओंके साथ-साथ एक ऐसे युगका समारम्भ हुआ जिसमें हिन्दू-देवतागणकी प्रतिमाओंकी सकुलता चतुर्दिक् दृष्टिगोचर होने लगी। देवगणका विस्तार सिद्ध करता है कि उनकी असंख्य मूर्तियोंका कोई उद्देश्य था—उनको मन्दिरोंमें प्रतिष्ठित करना। कवि देवताओंकी[2] असंख्य प्रतिमाओं (देवप्रतिमा[3]) और दूसरे मूर्ति-निर्माण[3] (मूर्तिमन्तम्) का उल्लेख करता है। वह उक्त गंगा और यमुनाकी उत्कीर्ण प्रतिमाओंके अतिरिक्त कुछ हिन्दू देवताओंकी उत्कीर्णित मूर्तियोंका विशेषतया संकेत करता है।

ब्रह्मा

इन्होंने काट और गढ़कर पौराणिक चतुर्मुख[4] ब्रह्माकी मूर्ति बनायी जा रही थी (चतुर्मूर्ति, धातारं सर्वतोमुखम्)। कविने सबसे सजीव वर्णन जिस प्रतिमाका किया है वह है विष्णुकी मूर्ति (.......मूर्तिभिः)जिसके लिए वह सैद्धान्तिक

---

१ मूर्ते च गंगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्। कुमा०, ७.४२

२ रघु०, १६.३६, १७.३६। ३ वही, १७.३१। ४ वही; १०.७३; कुमा०, २.३।

मूर्तिनिर्माण-कलाके प्रदेशमें भी प्रविष्ट होता है। कतिपय पद्योंके आभ्यन्तर विष्णुकी पूरी मूर्ति आ खड़ी होती है।

विष्णु

विष्णु शेष-शय्यापर लेटे हैं और उसके फनो[1] के चन्दोवाके नीचे (भोगिभोगासनासीनम्) कमल पर बैठी अपनी मेखलाको अपने रेशमी उत्तरीयसे ढंकती हुई उनकी पत्नी लक्ष्मी अपनी गोदमें रखे उनके चरणोंको हाथमें[2] लिये हैं। यह देवता, जिसका अपना चिह्न श्रीवत्स[3] है, अपने प्रशस्त वक्ष:स्थलपर[4] कौस्तुभ मणि धारण करता है। यह वर्णन वास्तवमें एक प्रतिमाका अनुकरण है। मनोरंजक यह है कि कवि इस प्रतिमाके वर्णनमें विग्रह[5] शब्दका प्रयोग करता है जिसका अर्थ है मूर्ति। प्रतिमाकी पूर्णताके लिए 'किरीट',[6] 'जलज', 'चक्र', 'गदा' और 'सारंग'[7] जैसे अन्य लक्षणोंका रहना आवश्यक है। इसके बाद उसके पास उसका सेवक गरुड़[8] रहता है। कवि-द्वारा उपस्थित किये गये एक दूसरे चित्रमें कौस्तुभधारी विष्णुकी सेवा हाथमें[9] कमलका पंखा लिये लक्ष्मी कर रही है। वर्णनके मुख्य भाव ये हैं कि कवि उपर्युक्त लक्षणोंको विशिष्ट लक्षण[10] (लांच्छित) कहता है जिनसे वामन विष्णुओंकी मूर्तियाँ[11] (मूर्तिभि:) पहचानी जाती हैं। स्मरण रखा जा सकता है कि 'त्रिमूर्तिलक्षणविधान' नामक मूर्तिनिर्माण-विद्याकी एक पुस्तकमें ये लक्षण उल्लिखित हैं। इसके अतिरिक्त इन मौतिक लक्षणोंके साथ शेषपर शयन किये या खड़े दोनों मुद्राओंमें विष्णुकी किसी भी प्रतिमाका एकीकरण भारतीय संग्रहालयमें किया जा सकता है। संग्रहालयोंमें सामान्यत: पायी जानेवाली प्रतिमा 'त्रिमूर्ति'[12] जिसका उल्लेख कालिदास करते हैं, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव

---

१ रघु०, १०.७; श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात् कुमा०, ७.४३। २ रघु०, १०.८। ३ श्रीवत्सलक्षणं वही, १७.२९। ४ वही; १०.१०। ५ वही; १०.७। ६ वही; ६.१६, १०.७५। ७ वही; १०.६०। ८ वही; १३,६१। ९ वही; ६२। १० वही; ६०। ११ अध्याय; ५१। १२ कुमा०, २.४।

संग्रहालयमे सचमुच ही एक सुन्दर बड़ा मृण्मय मयूर प्रदर्शित है। यह विशेष लक्षणीय है कि भारतके हाथके सम्बन्धमे कालिदास 'जालग्रथितांगुलिः' करः' का प्रयोग करते है जिसका अर्थ है 'जालीदार उँगलियाँ'। जालीदार उँगलियोवाली भास्कर्य और मृण्मयी मूर्तियाँ आश्चर्यपूर्वक विरल है और जो आज विद्यमान है वे गुप्त-कालकी है। लखनऊ-संग्रहालयमें सुरक्षित मानकुंवर प्रस्तरका बुद्ध इस प्रसंगमें लक्ष्य है। इसके दोनो हाथों की उँगलियाँ जालीदार है।

अब हम भास्कर्यकलासे सम्बद्ध अप्रत्यक्ष प्रमाणोकी विवेचना करेंगे। हमें अवश्य ध्यानमें रखना चाहिए कि प्रथम श्रेणीके काव्योंके क्षेत्रमें संस्कृत-साहित्यकी प्रवृत्ति काव्य-ध्वनि-कलामें विशेषता पानेकी इतनी उद्दाम रही कि ध्वनि काव्यकी एक अलग शाखा ही निकल पड़ी। ध्वनि-कलाके कालिदास आचार्य माने जाते है। जहाँ वे प्रत्यक्ष किसी विशिष्ट भास्कर्य प्रतिमाका संकेत नही करते, वहाँ वे अप्रत्यक्षतया उसका पूर्ण चित्रण कर उसको प्रकट कर देते है। और यदि हम उनकी पंक्तियोंके मर्मको समझ सकें तो हमे भास्कर्यकी उत्कृष्ट रचनाओंके असख्य संकेत प्राप्त होगे जिनकी अनुकृतियाँ अधिकाश भारतीय संग्रहालयोमें रखी है और बिना कठिनाई के उनका एकीकरण कर सकते हैं। अगले पृष्ठोमें हम उनपर विचार करेंगे।

कवि बहुधा प्रभामण्डल,[2] छायामण्डल[3] तथा स्फुरत्प्रभामण्डलका[4] उल्लेख करता है। स्मरणीय है कि उत्तरी भारतके भास्कर्यकलामें प्रभा-

प्रभा-मण्डल

मण्डलका वास्तविक प्रदर्शन भारतीय इतिहासके कुषाण-कालसे आरम्भ होता है। बादके कुषाण और आरम्भिक गुप्त-कालोमें प्रभामण्डल एक सर्वसम्मत रूप धारण कर लेता है और एक आकर्षक आकृति हो जाता है।

---

१ वही, ७.१६। २ रघु०, १५.८२, १७.२३; कुमा०, ६.४, ७.३८। ३ रघु०, ४.५। ४ वही, ३.६०, ५.५१, १४.१४; कुमा०, १.२४।

पूर्वका छत्र, जो बडी मूर्तियोंके पीछे दिखाया जाता था और उनके सिर पर उठा रहता था, कुषाण और गुप्तकालीन बौद्ध-प्रतिमाका प्रभामण्डल बन जाता है। छत्रकी परम्पराका बिल्कुल अन्त हो गया है और उसका स्थान प्रभामण्डलने ले लिया है जिसको प्रतिमामें एक चिपटा छत्र जड़कर प्रदर्शित करते हैं, जो पीछे आसनसे लेकर शिरोभाग तक आच्छादन करता है। प्राचीन छत्रके समान ही इसके दण्ड नही होता। मथुरा[1] और सारनाथके संग्रहालयोमें सुरक्षित बुद्ध तथा बोधिसत्त्वकी अनेक प्रतिमाओंके पृष्ठभागमें उपस्थित इस प्रकारके प्रभामण्डल देखे जा सकते हैं, जिनके किनारो और धरातल पर पुष्प तथा पक्षियोंकी आकृतियाँ चित्रित हैं।

'मयूराश्रयी गुह',[2] मयूरासीन कार्त्तिकेयकी धारणा कालिदासके ग्रन्थोमें उसी प्रकार स्पष्ट है जिस प्रकार भास्कर्यकलामें। मथुराके[3] संग्रहालयमे प्रदर्शित एक मयूर पर, जिसने अपने पक्षोंको पूर्ण 'मण्डल'में फैला रखा है, आरूढ कार्त्तिकेयका एक बहुत यथार्थ नमूना हमें मिलता है। उसीके एक बड़े मृण्मय प्रतिरूपका उल्लेख हो चुका है। मयूरारूढ कार्त्तिकेयकी मूर्तिका नमूना कालिदासके युगके मूर्ति-शिल्पियोको इतना प्रिय था कि हम देखते है कि बोधिसत्त्वकी[4] भुजाओ पर पहनाये गये 'केयूर' [मथुरा-संग्रहालयमें प्रदर्शित], जो कुषाण-युगके मूर्ति-खड सं० अ० ४६ पर विशेषतया दीख पडते हैं, नाचते हुए मयूरके बिल्कुल अनुकरणमें बनाये गये हैं। कविको भी केयूर आभूषण[5] कम प्रिय नही है।

मयूरासीन कार्त्तिकेय

---

१ प्रदर्शन १०, A, १, A. २, (टूटा), A.४५ (टूटा), B १, ए. ५। २ मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन रघु०, ६.४। ३ प्रदर्शन १०.४६६। ४ टोर्सो, A. ४५, A. ४६। ५ रघु०, ६.१४, ५४, ६८, ७३, ७.५०, १६.५६, ६०, ७३; ऋतु०, ४.३, ६.६; मेघ० पू० २, शाकु०, ३.१०, ६.६; विक्र०, पृ० १५।

कालिदासने बहुधा[1] कटिसूत्र और मेखलाका वर्णन किया है और हम पश्चात् कुषाण तथा आरम्भिक गुप्त कालमें उत्कीर्ण देवियोकी[2] मूर्तियो पर असंख्य चौडी मेखलाएँ देखते है। केयूर और मेखला गुप्त-युगकी एक विशेषता प्रतीत होते हैं, क्योकि उस युगके साहित्य तथा भास्कर्य दोनोमे हमे उनके और उनके प्रचुर वैविध्यके संकेत मिलते हैं। उसी प्रकार लटकती घुघराली लटे, 'अलक',[3] गुप्तकालीन प्रतिमाओ तथा मृण्मयी मूर्तियोके एकीकरणके लिए ऐसे ही अन्य विशिष्ट चिह्न है। मथुरामे[4] कई स्थानो पर आजकल पूजित गुप्त-युगके शिवकी घुघराली लटे चारो ओर लटकती हैं और शीर्षसे दूर हैं।

केयूर और मेखला

गुप्त-कालकी मृण्मयी नारी-मूर्तियोंके सिरसे लटकती अपूर्व सुन्दर लटे और घुंघराले बाल है। औनरिहर (जिला गाजीपुर, उत्तर-प्रदेश)से प्रायः आध मील पूर्व और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्यके विजय-स्तम्भकी भूमि सैदपुर भीतरीसे प्रायः डेढ मील उत्तर-पश्चिम मसोन नामक गुप्तकालीन एक ढूहकी बस्तीमेंसे ऐसी बहुत-सी मूर्तियाँ हालमें उद्घाटित हुई है।

अलकें

इस सम्बन्धमें भी हम उस ध्यानाकर्षक सादृश्यकी ओर संकेत कर सकते है जो गुप्तकालके उत्कीर्ण नमूनोंके अंगसौष्ठव और कविके चित्रमे चित्रित अंग-संस्थानमें दीख पड़ता है। कालिदास बहुधा भारान्वित

---

१ माल०, पृ० २८, ५६, ३.२१; रघु०, ६.४३, ७.१०, ८.६४, १३.३३, १६.६५, १६.२५, २६, २७, ४१, ४५; कुमा०, १.३७, ३८ ८.८६, ३५; ऋतु०, १.४, ६, २.१६, ३.२४, ४.४, ६.३, २४, ४३। २ प्रदर्शन १०. F १४, १६६२, १०, ११। ३ रघु०, १.४२, इत्यादि। ४ मिलाकर, मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०.१२४; दूसरा कमवन से, भरतपुर (अब इंगलैंड में)।

पयोधरोंका[1] वर्णन करते हैं। कुषाण और गुप्त भास्कर्यमें[2] प्रथम दृष्टिमें ही स्तनोंकी पीनता लक्षित होती है। उसी प्रकार स्पष्ट होती है समानता कविके साहित्यकी, नितम्बोंकी[3] गुरुता और भास्कर्य[4] तथा कुम्भकार-कला की उनकी समानान्तरता में।

मूर्ति-संस्थान-सम्बन्धी आधार

उपर्युक्त खुदाईकी भूमिमें मृण्मयी नारी-मूर्तियोंके ऐसे उच्च कोटिके नमूने निकले हैं जिनकी लटें लटक रही हैं, स्तन पीन, कटि क्षीण और चौड़ी मेखला-वाले नितम्बकी गुरुता स्पष्ट है। 'आवर्त्तशोभा' या एक गहरा आवर्त बनानेवाली नाभिकी शोभा कुषाण तथा गुप्तकालकी मूर्तिकलाकी विशेषता है। मथुराके रेलिंगस्तम्भोंपर[7] उत्कीर्णित ऋष्यशृङ्ग[8] तथा यक्षियोंकी मूर्तियाँ इसके उदाहरण हैं। यद्यपि गुप्तयुगके आरम्भिक कालमें ऐसी आकृतियाँ नितान्त अवाञ्छनीय नहीं हैं, तथापि वे साहित्य तथा कला दोनोंमें ही प्रधानता पायी हुई है।

कुषाण और उसी प्रकार गुप्त मूर्त्ति-कलाकी रचनाओं दोनोंमें हमें दोहद (अशोकमें फूल लानेके लिए उसपर स्त्रीका पदाघात करने) के दृश्य प्राप्त होते हैं।

दोहद

अशोक वृक्षमें फूल लानेके लिए उसपर पदाघात करनेको तत्पर या पदाघात करती हुई यक्षी अर्द्धनग्न खड़ी है, उसकी आकृतिकी सौन्दर्यपूर्ण गोलाई और स्निग्ध लचीलापन प्रकट हो

---

१ गुरुश्रोणिपयोधरत्वात् रघु०, १६.६०, ६.२८। २ मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०.१००७, F ६, २७, १६००। ३ नितम्बगुर्वी रघु०, ७ २५। ४ मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन, J ४, R १०६ और अन्य रेलिंग-स्तम्भ। ५ मसोन, बी० एन० डब्ल्यू० आर० पर औरिहार के निकट, जिला गाज़ीपुर यू० पी०। ६ रघु०, १६.६३। ७ प्रदर्शन १०. J ७। ८ प्रदर्शन १०. J १०, ११।

रहे हैं।[1] कालिदास ऐसे दोहदका[2] बहुधा उल्लेख करते हैं जिनसे उपर्युक्त दृश्य हमारे सामने आ खड़ा होता है। दोनोंकी चरम एकता इतनी स्पष्ट है कि दर्शकोंको दोनोंकी एकरूपताका विश्वास हो जाता है। मथुरा संग्रहालयकी सूची प्रस्तुत करते समय डा० पी० एच० वोगेल 'मालविकाग्निमित्र' के एक तद्रूप दृश्यकी समानता पर चकित हो गये और इस समानान्तरताको दिखानेके लिए उन्होंने उसका उल्लेख अपने 'कैटलाग आफ स्कल्पचर्स इन दी आर्चियोलोजिकल म्युजियम एट मथुरा'[3] मे किया। यहाँ हमे ध्यानमें रखना चाहिए कि साहित्य जीवनका प्रतिबिम्ब है और उसी प्रकार कला भी, किन्तु जहाँ साहित्य कुछ व्यक्तियोंका शानदार पेशा हो सकता है, कलाकी कृतियाँ सम्पन्न तथा सामान्य दोनो प्रकारके व्यक्तियोंके लिए आकर्षक रही है। कुषाण तथा गुप्त-कालके लोकार्थ इमारतो, मठों, मन्दिरो और वैयक्तिक गृह इस प्रकारके दृश्योंकी सख्यारहित विविधताओंसे एक ऐसी प्रतिमाका उद्भूत होना अवश्यम्भावी था जिसका तदनुरूप प्रतिबिम्ब साहित्यपर पड़ सके। कल्पना, कैसी भी जंगली क्यो न हो, पृथ्वीके साथ जंजीरमें बँधी है और जीवनकी घटनाओंमे पुष्ट होती है। अतएव कालिदास कलाकी सामयिक या पूर्वकी कृतियोंका सकेत करते हैं।

मथुरा-संग्रहालयके[5] एक कुषाण-रचना-कृतिमे हम कविकी सप्तमातृकोंको[4] यथार्थतः गढी और मूर्त पाते हैं। सप्त माताओंमें एक हैं काली,

---

१ प्रदर्शन १०. J ५५, F २७। २ रघु०, ८.६२, ९.१२; मेघ० उ०, १५; माल०, पृ० ३७, ४१, ४३, ४५, ४६, ४९, ५४, ८६, ३.२, १७, १९। ३ पृ० १५३। "यह कालिदासके नाटक 'मालविकाग्निमित्र' के एक दृश्यका स्मरण दिलाता है, जिसमें राजा नायिकाके अंगोंका अवलोकन करता है जो अपनी स्वामिनी रानीके कहनेपर उक्त अभिनयका नाट्य करती है।" ४ कुमा०, ७.३०, ३८, ६.८०, ८१। ५ प्रदर्शन १०. ५५२, ३८।

जिसका कविने मुण्डमाल[1] धारण किये (कपालाभरणा) उल्लेख किया है। इसके युगकी वह सामान्य आकृति है। एल्लोरामें इसकी एक आकर्षक आकृति देखी जा सकती है।

सप्त मातायें

कालिदास-द्वारा वर्णित शिवके[2] निवास कैलासको उठाये रावणका दृश्य कुषाणकालके मूर्ति-कलाविदोको कम प्रिय नहीं है। मथुरामें इसका एक सुन्दर नमूना सुरक्षित है। एल्लोराके[3] कैलास गुफामें बादका संस्करण अवलोकन किया जा सकता है।

कैलासको उठाये रावण

मथुरा[4] तथा अन्य स्थानोंके भास्कर्यमें,खिले पद्म[5] पर खड़ी या कमल-दण्ड[6] हाथमें धारण किये या कमल-नाल[7] (लीलारविन्द)के साथ क्रीडा करती लक्ष्मी अपने सभी अंग-सथानोंके साथ प्रदर्शित है। 'लीलारविन्द'[8] के दूसरे संकेत भी प्रचलित हैं। कविने[9] शिव तथा उमाका जो सुन्दर चित्रण किया है वह कुषाण-कालकी बहुत-सी मूर्तियोंमें मनोहर दम्पतिके रूपमें मूर्त किया गया है। मथुरामें एक द्वारकी चौखटकी[10] चित्रकारीमें चोटियोंके गूहने[11] तथा खोलनेके दृश्य सुन्दरतापूर्वक उत्कीर्ण है।

लक्ष्मी

---

१ काली कपालाभरणा कुमा०, ८.३९; चलकपालकुण्डला रघु०, ११.१५। २ दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थिसन्धेः कैलासस्य मेघ० पू०, ५८, रामस्तुलितकैलासं रघु०, १२ ४९, ६.८०; कुमा०, ८.२४। ३ गुफा १०.१६, कैलास या रंग-महल। ४ प्रदर्शन १०.२३४५। ५ रघु०, ४.१४, १०.८, कुमा०, ७.८९। ६ माल०, ५.६। ७ कुमा०, ३.५६, ६.८४; रघु० ६.१३। ८ रघु०, ६.१३; कुमा०, ६.८४। ९ शंभुना दत्तहस्ता। १० मेघ० उ०, २९, ३६। ११ प्रदर्शन १०.१८६।

उसीके एक दूसरे चित्रमे एक शृङ्गार करनेवाली दासी (प्रसाधिका) की ओर एक तलवा उठाया हुआ है। मथुराके रेलिंग-स्तम्भोमें एकपर

शृंगार

शृङ्गार-पटिका लिये एक प्रसाविकाकी[1] मनोहर उत्कीर्ण मूर्ति है। किन्तु सैरंध्रीकी सबसे सुन्दर मूर्ति बनारसके बनारस-कला-भवनमें प्रदर्शित है।

हमें कविके ग्रन्थोमे पूर्णकुम्भ[3] (मथुराके द्वार-पटोपर मूर्त), नागी[4], हाथसे गेंदको[5] मारना और उसका चोट खाकर उछलना, एक मुरली-

दूसरी मूर्तियाँ

वादक[6], लम्बी माला[7] और हाथमे दण्ड[8] लिये दौवारिक[9] (मथुराके एक द्वार-मार्गमे मूर्त) के संकेत प्राप्त होते हैं और उनकी समानान्तरता भास्कर्यमें[10] उपलब्ध होती है। हमे मथुरामें[11] दो बड़े यूप मिलते है, जिनके सादृश्यमें हमे कविके ग्रन्थोमें समानान्तर संकेत प्राप्त होते है।

कालिदासके[12] किन्नर और अश्व-मुखीके प्रतिरूप मथुरा-संग्रहालयमें

---

१ रघु०, ७.७। २ प्रदर्शन १०.(J) ३६६। ३ रघु०, ५.६३; मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०.१५०७। ४ माल०, पृ० ६४. मथुरा-संग्रहालय, प्रदर्शन १०. F २। ५ कराभिघातोत्थित-कन्दुकेयम् रघु०, १६.८३; मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०. J ६१। ६ रघु०, १६.३५; मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन न०. ६२ (हार्प प्लेयर)। ७ रघु०, ६.६०, १६.३७; मथुरा-संग्रहालय न०, १८६। ८ कुमा०, ३.४१; (मिलाकर, दौवारिक, इत्यादि); मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०. P १४, ६८, ६६, G १। ६ कुमा०, ३.४१; मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०. १, ६८। १० मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०.१३, १४४। ११ मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०. G १, P १४, ६८। १२ कुमा०, १.८, अश्वमुख्यः वही, ११।

सुरक्षित दो उत्कृष्ट आकृतियोमें है । उनमें एक किन्नर-दम्पतिका है, जिसका

किन्नर और अश्वमुखी

शरीर सुघड़ अश्वका है और मुख सुन्दर मनुष्य का । दम्पतिमें से एक अपने साथीपर[1] चढा है । दूसरा प्रतिरूप कुपाण-कलाके 'अश्वमुखी[2] जातक' का दृश्य प्रदर्शित करता है ।

हमें यह नही भूलना चाहिए कि कुपाण तथा गुप्तकालीन प्रतिमाओमें प्रधान आकृति, कुवेर[3] हमारे कविका[4] वहुधा सकेत पाता है और

उटज

पाश वहन करनेवाले वरुण[5] तथा कालिदासके इन्द्रकी भी कलामें आकृतियाँ है । पूर्व कालकी कलाके पूरे खिले कमलभी[6] कविके प्रिय उपमान है । मथुराके[7] एक लम्वे शुग-मूर्ति-मेखलामें रघुवंशके[8] तपोवनके हरिणोसे भरे द्वारवाले व्यस्त उटज वडी सुन्दरतासे उत्कीर्ण है जिसमे एक मुनिका उटज, हरिण, एक वेदी, एक कमण्डलु और तपोवनके आस-पास रहनेवाले दूसरे पदार्थोका पूर्ण चित्र दीख पडता है ।

कविके[9] एक साहित्यमें वर्णित-जैसा ही अपना पुष्प-धनुप और पञ्च-

कामदेव

वाण लिये कामदेव एक मृण्मयी पूरी खड़ी आकृतिमे देश्यपूर्ण सुन्दरताके साथ उत्कीर्णित है जो मथुरा-सग्रहालयमे[10] प्रदर्शित है । कदाचित् यह अपने ढगकी एक ही मृण्मयी आकृति भारतमें है ।

---

१ मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०. F १ । २ वही, न०, १६१ । ३ मथुरा-सग्रहालय प्रदर्शन १०. १२४, C ३, ३१; ७५; दूसरा, अव विलायतमें । ४ रघु०, ५.२६, २७, ६.२४, २५, १४.१६, २०; कुमा०, २.२२, ३.२५ । ५ रघु०, ६.२४; कुमा०, २.२२ । ६ मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०. ५८६ । ७ रघु०, १.४६-५२ । ८ मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०. १.४ । ६ कुमा०, १.४१, २.६४, ७.६२; रघु०, ६.३६, ११.३६, ६.४५; ।वक्र०, २.२ । १० प्रदर्शन १०.१४४८ ।

भारतीय इतिहास के मौर्य, शुंग, विशेषतया कुषाण तथा प्रारम्भिक गुप्त कालोंकी विशेषता भास्कर्य-कलाकी यक्षियोंकी मूर्तियोंसे प्रकट होती

यक्ष

थी। यक्ष-सम्प्रदाय-जैसा कुछ चल पड़ा जो कुषाण तथा गुप्त कालोंमें इतनी ऊँचाई पर जा पहुँचा जिसकी कल्पना भी नही की गई थी और जिसके प्रभावसे साहित्य भी, जो मानवके विश्वासका प्रतिबिम्ब है, अछूता न रह सका। कालिदास प्रणयके प्रतीक यक्षको अपने मेघदूतका नायक बनानेके लोभका संवरण नही कर सके। और भी, उन्होंने बहुधा[1] यक्षोंका संकेत किया है। मथुरा-संग्रहालयमें[2] असंख्य गोलाईमें उत्कीर्ण सुन्दर यक्ष-मूर्तियाँ प्रदर्शित है।

अन्तमें कामदेवसे आक्रमण किये जाते कालिदासके समाविस्थ शिवके वर्णन और ध्यान-मग्न बुद्ध प्रतिमाओंकी पूर्ण शान्तिके साथ उसका विचित्र

शिव और बुद्ध

सादृश्य दिखलाये बिना उनकी रचनाओंमें भास्कर्यके वर्णनका कोई भी संकेत पूर्ण नही कहा जा सकता। निस्सन्देह चित्र मौलिक नही है, वह उन प्रतिमाओंके अनुकरणकी एक चेष्टा है। यदि शिवकी समाधि- का पूरा वर्णन नीचे दे दिया जाय तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जायगा। शिव वीरासन मुद्रामें समाविस्थ बैठे है, उनके दोनो कन्धे कुछ आगेकी ओर झुके हुये हैं और उन्होंने अपनी दोनो हथेलियोंको पूरे खिले कमलोंकी[3] तरह अपने अंकमें स्थापित कर लिया है। उनके सिरके बाल[4] एक गाँठ देकर बाँध दिये गये है। उनकी आँखें कुछ खुली है, कुछ झुकी हैं और पुतलियाँ नासिकाग्र[5] पर लगी है। अपने शरीरमें चलनेवाले विविध वायुओंको रोक कर वे शान्त बैठे है और नितान्त निःस्पन्द तथा स्थिर

---

१ मेघ० पू०, १, ५; मेघ० उ०, ३; कुमा०, ६.२९। २ प्रदर्शन १०.५, १४, E ८, २४, C १८। ३ कुमा०, ३.४५। ४ वही, ४६। ५ वही, ४७।

किया है, केवल कल्पना-जन्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। जब हमारे सामने देशमें इन आकृतियोंके सामान्य रूपसे देखे जानेके प्रमाण विद्यमान है। यह स्वाभाविक है कि कविने सम्भवत: इनसे ही अपनी मूर्ति गढ़ी हो।

यही कारण है कि हम कालिदासको ऐसे वाक्यांशोंमें बोलते पाते हैं जिनकी व्युत्पत्ति कुषाण और गुप्त-कला (भास्कर्य) की उनकी समानान्तरताओंसे कही जा सकती है।



अध्याय १४

स्थापत्य-कला

कालिदासकी रचनाओंमें कहीं-कहीं पाये जानेवाले संकेतोंसे भारतके प्राचीन स्थापत्यकी रूप-रेखा आँखोंके सामने लायी जा सकती है।

स्थापत्य

शिल्पियोंके संघ-द्वारा[1] एक राजनगरकी मरम्मत और पुनर्निर्माणका[2] वर्णन हमें मिलता है। स्थापत्यका संकेत 'वास्तु'[4] शब्दसे किया गया है। 'रघुवंशमें'[3] राजधानीके निर्माणमें इसका प्रसंग आया है।

कविके वर्णनोंमें एक नगरके स्थापत्यका पूर्ण चित्र चित्रित है। नगरकी निर्माण-योजना सुयोजित थी। उसमें एक-दूसरीको काटनेवाली सड़कें थीं। मुख्य सड़क राजमार्ग[5] (राजपथ) थी जो कदाचित् नगरको पार करती हुई उसको देशकी दूसरी नगरियोंसे मिलाती थी। नगरके मध्यमें एक व्यस्त बाजार[6] (विपणि) था और बाजारके राजपथके दोनों पार्श्वोंपर बड़े-बड़े मकान[7] निर्मित थे जो लाक्षणिक नाम आपणमार्गसे[8] प्रसिद्ध था। राजधानी या समृद्ध नगरीमें सौध और अट्टालिकाओं[12] वाले अभ्रंकष[9] धवल प्रासाद[10] और उन्नत महल[11] भरे थे। राजनगरीमें

---

१ शिल्पिसंघाः वही। २ पुरं नवीचक्रुः रघु०, १६.३८। ३ वही, ३९। ४ वास्तु वही, १७.३६। ५ वही, १६.१२, नरेन्द्रमार्ग ६.६७। ६ वही, १६.४१। ७ प्रासादमालासु कुमा०, ७.५६, ६३। ८ वही ५५। ९ अभ्रंलिह, अभ्रंलिहाग्र रघु०, १४.२९; मेघ० उ०, १। १० रघु०, ७.५, ८.९३, १३.४०, १५.३०, १६.१८, १९.२, ४०; कुमा०, ६.४२, ७.५६, ६३; मेघ० पू०, ७, २७; मेघ० उ०, ३; ऋतु०, १.२, ९, २८, ५.३; माल०, २.२। ११ सौध इत्यादि; मेघ० पू०, ७; ऋतु०, १.९। १२ अट्ट रघु०, ६.६७, १६.२; ५.७५, १६, ६, २.१९.२।

सार्वजनिक[1] उपवन (पुरोपकण्ठोपवनम्) और मजुल सोपानोंसे[2] युक्त स्नानागार, सैकडो यज्ञ-स्तम्भ,[3] तोरण,[4] कृत्रिम[5] शैल (क्रीड़ा-शैल), नगरीको बाहरसे घेरनेवाली चहारदीवारी[6] (प्राकार), सिंह-द्वार[7] (गोपुरद्वार) और नगरके प्राकारको घेरनेवाली गहरी खाई[8] (परिखा) ये सब निर्मित थे।

हम उपर्युक्तका वर्णन एक-एक करके किसी हदतक करेंगे। जैसा हमने ऊपर कहा है, नगरमे एक-दूसरेको पार करनेवाले चौडे राजपथ थे। चौडी सडक, बड़ी सडक और उच्च पथका[9] नाम था 'राजपथ'।[10] इसका वर्णन 'ब्रह्माण्ड पुराण', भाग १, २रा अनुसंग पद, अध्याय ७, ८, ११३, ११४, ११५ में है। कालिदास राजपथका दूसरा नाम राजवीथी[11] रखते है। तथापि पी० के० आचार्य अपने 'डिक्नरी आफ हिन्दु आर्चिटेक्चर'[12] में इसका पृथक् उल्लेख करते है जहाँ उसकी व्याख्या इस प्रकार करते है, "सार्वजनिक सड़क, राजपथ, नगर या ग्रामके चतुर्दिक् घूमनेवाली सड़क, मंगलवीथी या रथवीथी'[13] भी कहलानेवाला।' क्योंकि कालिदास भिन्नतासूचक नामोल्लेखोंसे 'राजपथ' तथा 'राजवीथी' का पार्थक्य सूचित करते है इसलिए यह ध्वनि ली जा सकती है कि 'राजपथ' राजकीय राजमार्ग था जो नगरके मध्यसे जाता हुआ देशके दूसरे नगरो तक पहुँचता था और राजवीथी उस प्रकारकी प्रधान सड़कोंमे थी। यह भी सम्भव हो सकता है कि 'राजपथ' का जो भाग नगरमें चलता था 'राजवीथी'

---

१ वही, १४.३०। २ मेघ० उ०, १३। ३ यूपानपश्यच्छतशो रघु०, १६.३५, १.४४।४ तोरण वही, १.४१, ७.४; मेघ० उ०, १२; कुमा०, ७.६३। ५ आक्रीड पर्वतास्तेन कल्पिताः स्वेपु वेश्मसु कुमा०, २.४३; मेघ० उ०, १४, १८। ६ रघु०, १.३०, ११.५२, १२.७१। ७ शाकु०, पृ० १८५। ८ रघु०, १.३०, १२.६६; शाकु०, २.१५। ९ रघु०, १६.१२। १० पी० के० आचार्य : ए डिक्सनरी आफ हिन्दू आर्चिटेक्चर: पृ० ५२४। ११ रघु०, १८.३६। १२ पृ० २५४। १३ वही

विशिष्ट नाम थे। 'मत्स्य-पुराण' ने 'विमानपरिच्छन्द'को विमान-छन्द[1] लिखा है। वहाँ इसको कहा गया है एक प्रासाद जिसमें आठ मंजिलें हों, बहुसंख्यक कंगूरे तथा मुख हो जिसकी चौड़ाई[2] ३४ हाथ हो। मणिहर्म्य दूसरे प्रकारका प्रासाद था जिसका उल्लेख अर्थशास्त्रमें[3] भी हुआ है। पी० के० आचार्यकी व्याख्या है—'एक ऊपरी मंजिल, एक स्फटिक महल, रत्नजटित प्रासाद'[4]। आचार्यकी व्याख्याके अनुसार 'एक स्फटिक-महल' कदाचित् इसके भावका सबसे निकटका व्यक्तीकरण है। यह संगमर्मरका बना हो सकता है। यह सम्भव है कि इसके निर्माण-के कुछ उपकरण मणिमय पदार्थोंसे बने हों। प्रकृतितया 'गंगाकी[5] तरंगोंकी शोभावाला स्फटिक सोपान के साथ इसकी छत[6] (पृष्ठतलम्) अत्यन्त रमणीय प्रतीत होती थी। मानसार किञ्चित् भिन्न नाम 'मेघ-कान्त' से मेघप्रतिच्छन्दका संकेत करता है जिसके अनुसार यह दस-मंजिलें[7] महलोंके वर्गमें आ जाता है। देवच्छन्द भी तादृश इमारत था। 'अभ्रलिह,[8] और 'अभ्रलिहाग्र'[9] क्रमशः आकाशचुम्बी तथा आकाश-चुम्बन-बिन्दु)' तल'[10] (मंजिल)और 'विमानाग्रभूमि'[11] (विमान-प्रासादके चूडान्त मंजिल-के सामनेकी चतुष्कोण छत)से इन प्रासादोंकी तुंगता ध्वनित होती है। शाकुन्तलमें[12] उल्लिखित प्रासादके शिखर-पृष्ठतलके संकेतसे प्रासादोंकी बहुमंजिली शैलीका होना निश्चित होता है। प्रासाद साम्यतः दो भागोंमें विभक्त होता था, अन्तर्भाग और बहिर्भाग। अन्तर्भाग (मानसारकी[13]

१ ५ २५, ३२, ३३, ४७, ५३। २ आचार्यः ए डिक्ट० आफ हिन्दु आर्चि०; पृ० ४०८। ३ गृह-विन्यासके नीचे देखो। ४ ए डिक्ट० आफ हिन्दु आर्चि०, पृ० ४६७। ५ गंगा-तरंगशिशिरेण स्फटिकमणिशिला-सोपानेन विक्र०, पृ० ६५। ६ वही। ७८ २८. १६-१७, आचार्यः ए डिक्ट० आफ हिन्दु आर्चि०, पृ० ५१२। ८ रघु०, १४.२९। ९ मेघ० उ०, १। १० विक्र०, पृ० ६५; रघु०, ८.९३, १६.२। ११ मेघ० उ०, ६। १२ पृ० २१८, २२१, २२३। १३ आचार्य : इण्डियन आर्चिटेक्चर, पृ० ५८।

अन्त शाला) में अन्त.पुर या राजकीय हर्म्य होता था और वहिर्भागम आगन, मुनियोसे मिलनेका अग्न्यागार[1] और तादृश सभागृह[2], कारागृह तथा सभा-भवन अवस्थित थे। जैसा कि हमने अन्य स्थलमे देखा है, प्रमदवन सिंहद्वारके पास प्रासादसे लगा था। इनमें सब प्रकारके ऋतु-जन्य पुष्प और पक्षी, तडाग और शायद चिडियाखाने[3] भी थे।

उपर्युक्त प्रासादोंके अतिरिक्त हमें और भी एक प्रकारका प्रासाद समुद्रगृह[4] मिलता है। यह ठढकके स्थानमें बना हुआ एक ग्रीष्मावास था। यह ऐसा विहार-भवन हो सकता है जो चतुर्दिक् फव्वारेदार झरनोंसे घिरा हो। इस भवनके उद्यानमे ही राजा अनेक ग्रीष्मकालीन[5] विहारोंका आनन्द लेनेके लिए जाता था। यह एक मुख्य बात है कि मत्स्यपुराण,[6] भविष्यपुराण[7] तथा बृहत्सहितामें[8] समुद्रका सकेत आता है जिनके मतानुसार यह एक विशिष्ट प्रकारका सदन है। मत्स्यपुराण इसको षोडशभुज दुमजिला महल[9] कहता है।

राजप्रासादोंके अतिरिक्त गृह थे—सौध[10] और हर्म्य[11]। प्रो० आचार्यके अनुसार सौध था, 'एक पलस्तर किया हुआ चूनेकी सफेदीवाला मकान, एक बडा महल, एक अट्टालिका, एक प्रासाद'[12]। मानसारने हर्म्यके सात-मजिले वर्गकी इमारत[13] होनेका उल्लेख किया है। सौध तथा हर्म्य ऊँची छतवाली इमारतें थी और उज्जयिनीकी इसी वर्गकी इमारतोका कवि अपने मेघदूतमें[14] वर्णन करता है। इन महलोमें कपोत[15]

सौध और हर्म्य

---

१ अग्न्यागारे रघु०, ५.२५; अग्निशरण शाकु०, पृ० १२५, १५६; विक्र०, पृ० ६०, मंगलगृह माल०, पृ० ८८। २ रघु०, १७.२७, सदोगृह ३.६७। ३ पिंगलवानरेण माल०, पृ० ८५। ४ वही, पृ० ७२, ४८, ८०। ५ वही। ६ अध्याय २६९, ३८, ५३। ७ अध्याय १३०, २४। ८ आचार्य: इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० ११६। ९ वही। १० पूर्वका उल्लेख। ११ वही। १२ ए डिक्ट० आफ० हिन्दु आर्कि०, पृ० ६४२। १३ २५.२६। १४ मेघ० पू०, ३८; मेघ० उ० १। १५ मेघ० पू०, ३८।

निवास करते कहे जाते है। ध्यान रखना चाहिए कि कपोत सामान्यतः ऊँचे मकानोमें ही अपने अड्डे वनाते है। कुवेरकी राजधानी, अलकाके विशाल भवनोकी उपमा मेघोंसे दी गई है और उनके शिखरोको वादलोंका[1] चुम्बन करते हुए कहा गया है। कहा जा चुका है कि अपनी तुगताके कारण भवनोको अभ्रंलिह या अभ्रहिलाग्रकी उपाधि प्राप्त थी। जिनके प्रकोष्ठ थे ये अट्ट,[2] सौध या हर्म्य[3] कहलाते थे। भवन ईंटोंके बने थे और जैसा कि 'सौध' शब्दसे प्रकट होता है उस पर चूनेके पानीसे पलस्तर की गयी थी। धौत[4] (धौतहर्म्य) का भी वही शब्दार्थ है। ईंट-पत्थरके सिवा, ऐसा प्रतीत होता है, धनपतियोंके बहुमूल्य गृहोका निर्माण संगमर्मर[5] (मणिशिला) से भी होता था। गृहोकी छतें प्रायः ढालू बनायी जाती थी और इस ढालूको वलभी[6] कहा जाता था। इसकी व्याख्या प्रो० आचार्य ने की है—'छत, छप्पर, गृहका सबसे ऊँचा भाग, कोठेवाले मकानों का एक वर्ग, एक प्रकारकी कार्निस, आयताकार मकानोका एक वर्ग, शिखर-गृह, प्रकोष्ट, झरोखा[7] इत्यादि'। मानसार[8] मे यह कार्निसका पर्याय कहा गया है। आयताकार[9] आँगनवाला साधारण गृह भवन[10] था। साधारण गृहका एक पूर्णांग चित्र नीचे दिया जा सकता है। भीतर चार दीवारोंसे घिरा आँगन[11] था जिसके वरामदेमे भीतरके कमरोंके दरवाजे थे। कालिदासके उल्लेखानुसार भीतरके कमरोमें[12] थे—सोने[13] और

---

१ अभ्रंलिहाग्राः मेघ० उ०, १। २ पूर्वका उल्लेख। ३ मेघ० पू०, ७; ऋतु०, १.९। ४ मेघ० पू०, ७। ५ मणिशिलागृह कुमा०, ८.८१। ६ मेघ० पू०, ३८। ७ ए डिक्ट० आफ हिन्दु आर्चि० पृ० ३७। ८ १६.१९। ९ मेघ० पू०, ३८। १० अग्निपुराण, अध्याय १०४, श्लोक १६-१७; गरुड़पुराण, अध्याय ४७, श्लोक २१-२२, २६-२७। ११ पूर्व द्रष्टव्य। १२ कक्ष्यान्तराणि कुमा०, ७.७०, ८.८१; रघु०,, १९-४२; (गर्भवेश्म) शाकु०, ५.३। १३ शय्यागृह रघु०, १६.४; माल० पृ० ६५।

अग्निके[1] कमरे, गर्भवेश्म[2] (कोठरी), खेलनेके कमरे,[3] भण्डार[4] इत्यादि। गृहमें कई वातायन[5] थे जो सडककी[6] ओर खुलते थे। गृहकी छत पर झरोखे[7] (अलिंद) होते थे। गृहका अग्र भाग 'मुख'[8] कहलाता था जो द्वार ही था। द्वारके ऊपर (चौखटोंके ऊपर) एक तोरण[9] था जो कभी तो साधारण तोरणाकृतिका होता और कभी वह मत्स्य या मकर[10] (मकरतोरण) की आकृतिका बना होता था। मथुरा-संग्रहालयकी[11] एक रमणीय आकृतिमें इस प्रकारका एक मकरतोरण सुन्दरतासे प्रदर्शित है। तोरणके नीचे देहली[12] थी। बहुमंजिले मकानोंमें बरामदे[13] भी होते थे और शिखर-मंजिल पर तल्प भी। वास्तुकलाकी दृष्टिसे इन शब्दोंमें से कुछ पर यहाँ विचार करना असंगत नहीं होगा।

तोरण

अलिंद या झरोखाका महराव, तोरण सामान्यत. प्रासाद या नगरके बहिर्द्वार या महरावदार दरवाजेके लिए आता है। इनसे अस्थायी सजावट-के महरावका भी अर्थ लिया जाता था जो साधारणतया गृह-द्वारो या सडको पर किसी महापुरुषके स्वागतमें बनाया जाता था और उनका प्रवेश-द्वार 'द्वार'[14] या 'मुख'के नामसे सम्बोधित होता था। तोरणकी व्याख्या की

१ अग्न्यागार रघु०, ५.२५; अग्निशरण शाकु०, पृ० १२५, १५६; माल०, पृ० ८८। २ रघु०, १६.४२। ३ क्रीडावेश्म विक्र०, २.२२, ५ २२। ४ सारभाण्डभूगृहे गुहायामिव माल०, पृ० ६३, ६४। यह पृथ्वीके भीतर बना एक कमरा प्रतीत होता है। ५ रघु०, ६.२४, ४३, ५६, ७ ५, ६, ८, ९, ११, १३, २१, ४०; १४.१३, १९.७; मेघ० पू०, ३२; मेघ० उ०, २५, २७, ३५; ऋतु०, ५.२; विक्र०, पृ० ६३। ६ रघु०, ७ ५-१२; कुमा०, ७.५७-६३। ७ शाकु०, पृ० १५९; माल०, पृ० ७८। ८ माल०, पृ० ७८। ९ तोरण रघु०, १.४१, ७.४१; कुमा०, ७ ६३; मेघ० उ०, १२। १० मथुरा-संग्रहालयमें प्रदर्शन। ११ प्रदर्शन १०. ४.२। १२ पूर्वका उल्लेख। १३ वही। १४ वही।

गई है—'एक महराव, चापाकृतिमें ठोस पदार्थोंकी यान्त्रिक व्यवस्था जो पारस्परिक दवावके कारण एक-दूसरेसे सटे हो'[१]। "तोरण देवो, मुनियो, अर्द्ध-देवो, प्रेतो, मकरो, शिशुमारो, मत्स्यो, जन्तु-चित्रणो, सर्पो, सिहो, पुष्पो, पत्तियों, लताओ आदिकी उत्कीर्ण आकृतियोंसे वास्तुकला तथा सज्जाकी दृष्टिसे अलकृत किये जाते है और उनमें मनोहर रत्न जटित होते है।"[२] हमने मकराकृतिका उल्लेख ऊपर किया है।

अलिन्द

अलिद, जो सामान्यत. तोरणसे सुशोभित होता था, झरोखा था। 'डिक्शनरी आफ हिन्दु आर्टिटेक्चर' में उद्धृत वृहत्सहिता या किरणतन्त्रका भाष्य इसकी व्याख्या यू करता है, "अलिद शब्दसे दालानकी दीवारके वादके छाये रास्तेका वोध होता है जो आँगनके सामने हो।"[३] किन्तु कालिदासके 'अलिद' मे जो वास्तुकला-सम्वन्वी आकृति-योजना है उसकी व्याख्या इससे समुचित प्रकार नही होती। केर्न अपने वृहत्सहिता[४] निवन्ध, L. III १७ में ठीक ही विचार व्यक्त करता है कि "इस शब्दका अर्थ झरोखा, वीथी भी हो सकता था।" ऐसा प्रतीत होता है कि सभी वड़े मकानोकी छतो पर लम्वे झरोखे होते थे और वाहरी मुख्य[५] कमरो पर अलिद थे, क्योंकि हमे द्वारके शिरोदेश पर एक अलिदका पाठ मिलता है, 'समुद्रगृह'का[६] मुहालिद और दूसरा अग्न्यागारके[७] ऊपर का।

भवनो पर अट्ट[८] और तल्प[९] वनाकर उनको शोभन वनाया जाता

१ आचार्यः ए डिक्ट० आफ हिन्दु आर्चि०; पृ० २४७। २ वही, पृ० २४८। ३ पृ० ५४। ४ जे० आर० ए० एस०, (N.S) भाग ६, पृ० २८२, नोट ३। ५ माल०, पृ० ७८। ६ वही। ७ शाकु०, पृ० १५६। ८ नरेन्द्रमार्गाट्ट-रघु०, ६.६७, विशीर्णतल्पाट्ट—१६.११। ९ पूर्व द्रष्टव्य।

था। उजड़ी अयोध्या नगरीमें शतशः भग्न अट्ट तथा तल्प[1] दृष्टिगोचर थे। महाशय आचार्य अट्टकी, प्रकोष्ठ[2] कहकर, व्याख्या करते हैं।

अट्ट और तल्प

गृहके शिखर-प्रदेशमें अवस्थित कमरेका नाम तल्प है। चूडान्त मंजिलका यही एक कमरा था।

बड़े तथा प्रशस्त गृहोंके चारों ओर सामान्यतः चहारदीवारी होती थी जिनके वातायन राजपथकी ओर खुलते थे। राजमार्गकी ओर खुलनेवाली खिडकियोंके अनल्प संकेत हैं। 'आलोकमार्ग'[3] एक खिडकी था जिससे होकर प्रकाश गृहमें प्रविष्ट होता था और जिससे बाहरका दृश्य देखा जा सकता था। वायु-प्रवेशके दूसरे प्रकारकी खिडकीका नाम वातायन था। खिडकीकी सामान्य संज्ञा वातायन[4] थी और आलोक-मार्ग, गवाक्ष[5] तथा जालमार्ग[6] इसके भेद[7] थे। जैसा कि इसकी शाब्दिक व्युत्पत्तिसे ध्वनित होता है 'गवाक्ष' की आकृति गायकी आँखसे सादृश्य रखती थी। 'मानसार'में[8] इनकी इस प्रकारकी व्याख्या भी की गई है। मालविकाग्निमित्रमें इस प्रकारके वातायनका जिक्र आता है, जिससे उद्यान-तडाग दृष्टि-पथमें आता था और हवाके झोंके अन्तर्प्रविष्ट होते थे।[9] 'जालमार्ग' में काष्ठ, प्रस्तर, प्लास्टर या छिद्रमय धातुकी जाली लगी होती थी। यथार्थमें यह शलाका-जालीका काम था जो भारतीय रियासतोंमें पुराने गृहों और राजप्रासादोंमें अभी भी देखा जा सकता है।

वातायन

---

१ रघु०, १६.११। २ ए डिक्ट० आफ हिन्दु आर्कि०, पृ० १५। ३ रघु०, ७.६०, विक्र०, पृ० ६३। ४ रघु०, ६.२४, ६.८, १३.२१, १४.१३; मेघ० उ०, २५; ऋतु०, ५.२। ५ रघु०, ७.११, १६.७; मेघ० उ०, ३५; माल०, पृ० ६। ६ रघु०, ६.४३, ७.६; मेघ० पू०, ३२; मेघ० उ०, २७। ७ मानसार, ३३.५६८-५९७। ८ वही। ९ दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातमासेवमाना माल०, पृ० ६।

कालिदासकी कल्पना घोषित करती है कि भोज-नगरीके विशाल भवनके वातायनो पर सोनेकी[1] जालियाँ लगी थी। वातायन इस प्रकारके बने थे कि कमरेमें[2] चाँदनी आकर उसको भर देती थी और उससे उसमें रहनेवालेके श्रान्त अंगोंको शीतलता प्राप्त होती थी। कवि कल्पना करता है कि, इनमें लघु बादल प्रविष्ट हो जाते और आँगनमें चले जाते तथा अपने अन्तर्निहित वाष्पसे भीतरी दीवारोकी चित्र-कलाको[3] कलुषित कर देते थे।

आँगन

गृहके भीतर एक आँगन था जो चारो ओर से दीवारोसे घिरा था। कोई-कोई आँगन स्फटिकजटित[4] थे जो दिनमें सूर्यके प्रकाशसे जगमगा उठते थे और रात्रिमें[5] आकाशके ज्योतिष्पिण्डोंकी प्रच्छाया प्रतिबिम्बित होती थी।

जाल-निर्माण

प्रासादो तथा महलोंमें जालीदार परदोवाले पथ थे जिनमे स्त्रियाँ बाहरकी दुनियाका अवलोकन कर सकती थीं। प्रासादके अन्य अनेक कक्षो पर जाल लगे थे जिनसे होकर सन्ध्या समय धुएँका[6] अम्बार निकलने लगता था। ये पाकशाला या सान्ध्य उपासनाके समय आहुतियोंके धूम निकलनेकी खिड़कियोका काम भी करते थे।

स्नानागार

कितने गृहोमे स्नानागार[7] भी थे जिनमे स्फटिकशिलाके आसन और जल-नल[8] लगे थे। इन स्नानागारोमे ऐसा प्रबन्ध था कि स्नान तथा शीतलताकी अन्य आवश्यकताओंके लिए जल-धारा प्रवाहित रहती थी।

---

१ रघु०, ७.५। २ मेघ० उ० ७। ३ वही, ६। ४ कुमा०, ७.१०। ५ वही, ६.४२। ६ विक्र०, ३.२। ७ यन्त्रधारागृह मेघ० पू०, ६१; धारागृहेषु रघु०, १६.४९। ८ यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान्रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य। शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः॥ रघु०, १६.४९।

राजमहल या कभी-कभी प्रासादोंके बहिर्भागमें वाजि[1] तथा हस्ति[2] शालाएँ होती थीं। हस्ति-शालाओंमें ऐसे स्तम्भ[3] होते थे जिनमें हाथी बाँधे जाते थे।

अश्वशाला

राजप्रासाद, दूसरे भवन तथा तडाग सोपान-संयुत[4] थे जिनका वर्णन कालिदास इतने विस्मयके साथ करते हैं। विक्रमोर्वशीयमें गंगाकी[5] तरंगोंकी शोभा बिखेरती स्फटिक-सोपानोंकी पंक्तिका वर्णन है। तब एक तडागके जल-पृष्ठ[6] तक पहुँचनेवाले पोखराजके सोपानोंका उल्लेख करते हैं। यह वर्णन एकान्त काल्पनिक नहीं हो सकता और अतिशयोक्ति कहकर यह उपेक्षणीय नहीं है यद्यपि सम्भव है चित्रणका रंग कुछ आकर्षक कर दिया गया हो। आज भी अनेकों भारतीय राजाओंके महलोंमें स्फटिक सोपान हमें मिलते हैं।

सोपान या सीढ़ियाँ

उपर्युक्तके अतिरिक्त गृहों तथा राजभवनों पर रेलिंग-स्तम्भ[7] होते थे जिनपर नारी-आकृतियाँ उत्कीर्ण थीं। उनका हम आगे विवेचन करेंगे। इस सम्बन्धमें यह उल्लेख्य है कि मथुरा-संग्रहालयमें इस प्रकारके रेलिंग-स्तम्भों का बाहुल्य है जिनपर पक्षियोंकी आकृतियाँ उत्कीर्णित हैं जो कुषाण-कालके गौरव हैं। गृह-पक्षियोंके नित्य बैठनेके लिए गृहोंमें वास्तुकलाकी दृष्टिसे बने अड्डे[8] भी थे। वे वासयष्टिके नामसे प्रसिद्ध थे।

रेलिंग-स्तम्भ और वासयष्टि

---

१ मन्दुरासंश्रयिभिः तुरङ्गैः रघु०, १६.४१। २ वही। ३ वही ४ सोपानमार्ग वही; ६.१, ३, १६.१५, ५६; मेघ० उ०, १६; शाकु०, पृ० २२५; विक्र०, पृ० ६५। ५ विक्र०, पृ० ६५, पूर्व पाठ द्रष्टव्य, ६ मेघ० उ०, १६। ७ रघु०, १६.१७। ८ यष्टिनिवासनङ्गः रघु०, १६.३६; १७.३६, वासयष्टि मेघ० उ०, १६।

अभिषेक-गृह, सदोगृह[1] और आवसरिक विवाहमण्डप, चतुष्क[2] तथा चतुःशाला[3] थे। अभिषेकगृह तथा सदोगृहकी स्थायी इमारतें थी जब कि विवाहमण्डप तथा चतुष्ककी अस्थायी। विवाहमण्डप एक चँदोवा था जो विवाह-संस्कारकी सम्पन्नताके लिए बनाया जाता था। यह चतुष्क या चतुष्कोण चँदोवा था। गरुडशाला किसी भी आयताकार भवनका नाम था।

दूसरी इमारतें

मानसार-वास्तु-शास्त्रके अनुसार बनी यह चार स्तम्भोवाले वितानके साथ उठी वेदी[4] थी। यज्ञशरण[5] कदाचित् यज्ञशाला थी, यज्ञकी मण्डलाकार भूमि। यही यज्ञ होते थे। हमें प्रतिमागृहका[6] भी उल्लेख मिलता है, जहाँ देवताओंको बलि प्रदानकी उपासना की जाती थी। अपरञ्च, हम अश्वमेध तथा असंख्य दूसरे यज्ञोंके विषयमें पढ़ते हैं, जो सम्भवतः एतादृश यज्ञशालाओंमें किये जाते थे। फिर, राजप्रासादके बाहर 'स्वयंवर'[7] के लिए कभी-कभी अल्पकालीन इमारतें बनती थीं। ये इमारतें क्या थी, एकके ऊपर[8] दूसरे मंच खड़े होते थे। इन मंच-पंक्तियोंके मध्यमें अनेक मार्ग[9] बनते थे।

'राजाज्ञासे'[10] नगरवासी जिस नगरका परित्याग कर देते थे या जो विजेताके हाथों नष्टभ्रष्ट हो जाता था उसमें उजडे परकोटेके साथ सैकड़ों भग्न अट्ट तथा कंगूरे थे और ऐसे गृह, जिनके शिखर घासोंसे आच्छादित हो गये थे, दीख पड़ते थे।' राजपथ परित्यक्त और बाज़ार रिक्त तथा निस्तब्ध[11] थे।

नगरमें उपवन तथा उद्यान भरे थे (उद्यानपरम्परासु)[12]। उपवन

---

१ सदोगृह रघु०, ३.६७, सभा १७.२७। २ कुमा०, ५.६८, ७.६; रघु०, ७.१७। ३ माल०, पृ० ८७। ४ रघु०, १७.६। ५ माल०, पृ० १०२। ६ रघु०, १६.३६, १७.३६। ७ वही, ६। ८ मञ्च वही, ६.१, ३, १०। ९ मञ्चान्तरराजमार्ग वही, ६.१०। १० वही, १६। ११ वही, ११-१२। १२ वही, ६.३५, १४.३०।

दो प्रकारके थे प्रमदवन,[1] जो राजप्रासाद या भवनसे संयुक्त थे, और नागरिकोंके[2] उद्यान (पुरोपकण्ठोपवनानि) जो सामान्यतया नगरके बाहर अवस्थित होते थे। दोनों इतने लम्बे-चौड़े बनाये जाते थे कि उनमें एक फल-वाटिका और शरीरको शीतल करनेके लिए पत्थर तथा स्फटिकके[3] शिला-पट्टवाली[4] एक फुलवारी, विलास-कक्षोंवाले तडाग[5] (दीर्घिका), वापी[6] और कूप,[7] स्तम्भ जिनपर पालतू पक्षी बैठते[8] थे, फव्वारे[9] और सिंचन और एक चिड़ियाखाना[10] अट सके। कदाचित् वह प्रमदवनका संगी ही था।

उपवन और उद्यान

इन शब्दोंके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता होगी। दीर्घिका कदाचित् एक संकीर्ण लम्बा तड़ाग थी और शायद इसमें पानी उद्यानके निर्झरसे आता था। वापीकी व्याख्या प्रो० आचार्यने की है, 'एक तालाब, एक कुआँ, एक पानीका गड्ढा'[11]। कालिदास इसका प्रयोग एक रमणीय तडागके अर्थमें करते हैं। सम्भव है, दीर्घिका तथा वापी दोनों तड़ागके अर्थबोधक हों केवल इस भिन्नताके साथ कि पहला जहाँ लम्बा, संकीर्ण जलाशय था वहाँ दूसरा चतुष्कोण। कवि सर्वसाधारणके उपयोगमें आनेवाले उद्यानोंकी 'दीर्घिका' से 'गृहदीर्घिका'[12] का भेद प्रकट करनेके लिए गृहदीर्घिकाका उल्लेख करता है और उसको 'प्रमदवन'

दीर्घिका, वापी और कूप

---

१ प्रमदवन माल०, ७०; विक्र०, पृ० ५४। २ रघु०, १४.३०। ३ माधवीमण्डप शाकु०, पृ० २००। ४ मणिशिलापट्टसनाथो वहीं। ५ रघु०, ६.३७, १६.१३, १४.२, ६; कुमा०, २०.३३; माल०, २; पृ० ६, १२। ६ मेघ० उ०, १३; ऋतु०, ६.३। ७ ऋतु०, १.२२। ८ मेघ० उ०, १६; रघु०, १६.१४। ९ माल०, २.१२; मिलाकर भी ऋतु०, १.२; रघु०, १६.४६। १० पिङ्गलवानरेण माल०, पृ० ८५। ११ ए डिक्ट० आफ हिन्दु आर्कि०, पृ० ५४३। १२ रघु०, ६.३७।

में स्थान देता है। कवि कहता है, वापीके पोखराजकी[1] सीढ़ियाँ थी। दीर्घिकामें गुप्त खण्ड थे जो प्रेम-क्रीडा[2] (गूढ़मोहनग्राहः) के लिए बने थे। जन-सेवाके पुण्य-कार्यसे विरत हो मद्य तथा मैथुनमें रत होनेवाले अनेको राजे रूपवती ललनाओंके साथ ऐसे तड़ागोमे विहार करते और अवसर पाकर भूगर्भमें इन कक्षोमें चले जाते जो जलके समतलमें थे। टीकाकार[3] भाष्य करते हुए कहता है, 'ये कमरे 'सुरत' और 'कामभोग' के लिए थे। ये कमरे पानीमें थे और इनकी कमर भरकी ऊँचाई सूखे ढालू पर थी।' इस प्रकारका गुप्त कमरावाला तड़ाग आज भी लखनऊमें देखा जा सकता है जो सम्भवतः अवधके नवाब वाजिदअली शाहके लिए 'पिक्चर गैलेरी' के पृष्ठ भागमे बनाया गया था। कूप कुआँ था। मेघदूतमें वर्णित वापीके पार्श्वमें एक कृत्रिम शैल[4] खड़ा था जो कदलीवनसे आवृत था।

उद्यानोमे कृत्रिम शैलोंकी विद्यमानता सामान्य बात थी जैसा कि हमे कवि-द्वारा किये अनेक संकेत[5] मिलते है। यक्षके उद्यानके मध्यमें एक

क्रीडाशैल

स्फटिक शिला-स्तम्भ था जिसके ऊपर गृह-मयूर बैठा करता था। स्तम्भकी चोटी पर चतुष्कोण फलक लगा था। इसी फलक पर यक्ष-पत्नीका प्रिय मयूर (जो इसके नीचे खूटेसे बँधा होता था) अपनी स्वामिनीके कंकणकी[6] झंकारके ताल पर नाचता था।

आगेके संदर्भमें हम वारियत्र, निर्झर या उद्यानसे लगे जल-चक्रका वर्णन पढ़ते है : "ऊपर छिटकती हुई जलकी बूदोंको पीनेकी अभि-

जल-निर्झर

लाषासे मयूर घूमते हुए वारियंत्रके[7] आसपास उड़ रहा है।" महाशय एस० पी० पण्डित[8] के विचारमें 'वारियंत्र या जलयत्र रहट था' किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता। स्मरण रखना चाहिए कि रहटके डोलोसे पानीकी बूंदें

---

१ मेघ० उ०, १३। २ रघु०, १९.९। ३ उसी पर टीका। ४ कुमा०, २.४३; मेघ० उ०, १४, १८; विक्र०, पृ० ५४। ५ वही। ६ मेघ० उ०, १६। ७ माल०, २.१२। ८ विक्रमोर्वशीय, टिप्पणी।

निकल कर ऊपर और इधर-उधर नही छिटकती प्रत्युत झोलोंसे पानी नीचे टपकता है। इसके सिवा 'भ्रान्तिमत्' शब्दका प्रयोग इस प्रकारके चक्रके लिए नही हो सकता; उचित वाक्यांश 'भ्राम्यत्' हो सकता था। कविका भाव एक अपनी गतिमे आवर्तनशील निर्झरसे है। मयूरोंको जो पानीकी बूँदोंके लिए उड रहे थे उन्हें पकडनेके लिए बार-बार उनके चारो ओर चक्कर काटना पडता था। शीर्ष पर कुछ ऐसी व्यवस्था थी जिसमे वह घूमता था और उससे फव्वारे ऊपर और चारो ओर फूट पड़ते थे। इस प्रकार पानी निकलकर उद्यानकी सिंचन-नालीमें एकत्रित होता था और फूलोकी क्यारियो तथा वृक्षोंके थालोंको आप्लावित कर देता था। हम जल-कल और इसी प्रकारके अन्य साधनोका वर्णन कर आये है जिनसे पानी स्नानागारो (यन्त्रधारागृह) में प्रवाहित होता था।

नगरमे देवालय[1] (प्रतिमा-गृह) भी थे और वध-स्तम्भ[2] यूप भी। यूप बलि-पशुको बाँधनेका स्तम्भ[3] था। कुषाण सम्राटो-द्वारा अर्पित दो

यूप

आकृतियोमें इसके उदाहरण मथुरा-संग्रहालयमें प्रदर्शित है। इनके शीर्ष अश्वकी गर्दनकी आकृति में मुडे हुए है और नीचे मध्यमें और लट्ठेके चारो ओर अर्गलाकी आकृति उत्कीर्ण है। नगरके परकोटेके विशाल द्वार दृढ अर्गलाकी[4] सहायतासे बन्द होते थे।

उटज[5] या पर्णशाला[6] छप्परदार झोपडा था। मथुरा-संग्रहालयमें

उटज

सुरक्षित एक आकृति-रचनामें इसका स्पष्ट उदाहरण देखा जा सकता है जिससे इसके यथार्थ स्वरूपका पता चल सकता है।

---

१ वही, ३६, १७.३६; विश्वेश्वर वही, १८.२४; महाकाल मेघ० पू० ३३, ३४, स्कन्दवसति वही, ४३। २ यथानपश्यच्छतशो रघु०, १६. ३५। ३ वही, १८.४। ४ वही, १८.४। ५ वही, १.५०, ५२, १३.२२, १४.८१, १६.२; कुमा०, ८.३८। ६ रघु०, १२.४०।

यह दरीगृह[1] या शिलावेश्म[2] नामक स्थापत्य-विस्मयोंकी खुदाईका युग था। पर्वतकी ठोस दृढ़ चट्टानोंको काटकर देवालय बनानेके लिए ये गुफ़ाएँ निकाली गयी थी जिनका कालिदास बहुधा संकेत[3] करते हैं। पश्चिमी घाट तथा दाक्षिणात्यकी दूसरी पर्वत-श्रेणियो पर बिखरे हुए इनमेंसे एक पर एक दृष्टिपात करनेसे यह अनुमान किया जा सकता है कि इनमें कितना कठोर परिश्रम तथा कितना प्रभूत व्यय करना पड़ा होगा।

दरीगृह

स्थापत्यके किसी निर्माण-कार्यके समाप्त होने पर विविध उपहारोंके साथ, जिनमें बलि-पशु[4] भी शामिल थे, स्थापत्यके अधिष्ठाता देवताकी पूजा की जाती थी और उसके बाद ही उसका प्रयोग किया जा सकता था।

——:o:——

१ कुमा०, १.१०, १४; ऋतु०, १.२५। २ मेघ० पू०, २५। ३ वही, ऋतु०, १.२५; कुमा०, १.१०, १४। ४ सपर्यां सपशूपहारां रघु०, १६.३९; मिलाकर भी वही, १७.३६।

पञ्चम खण्ड

आर्थिक जीवन

अध्याय १५

धन और समृद्धि

कालिदासके ग्रन्थोंका पाठक जन-साधारणकी समृद्धि-शालीनता पर चकित हुए बिना नहीं रहता जो आर्थिक प्रकारकी अनल्प अभिव्यक्तियों-द्वारा बहुलतासे प्रमाणित होती है। सुतरां, यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिए कि क्योंकि वे मुख्यतः समाजके धनीवर्गका ही उल्लेख करते हैं, उनका वर्णन सर्व-साधारणकी अवस्थाका चित्रण नहीं कहा जा सकता। तथापि उनकी रचनाओंमें एक व्यक्ति जो कुछ पढ़ता है, उससे सम्पन्नता तथा सुख-सामग्रीकी प्रचुरताके प्रमाणों पर आश्चर्यान्वित हो जाता है। राजपथके दोनों पार्श्वों पर अवस्थित बहु-मंजिली छतें, तल्प, अलिन्द और कंगूरेवाले विशाल भवन चारों ओर देखनेमें आते थे। इनमें बहुसंख्यक भवनोंके साथ खूब हरेभरे उद्यान थे जहाँ, उर्वर भारतीय मिट्टीकी मनोरम क्यारियोंमें हर ऋतुके पुष्प और पौधे उपजाये जाते थे। बहुमूल्य पत्थरोंका धन राज्यकी आयका ही स्रोत नहीं था बल्कि बहुत अंशमें यह विलास-प्रिय धनपतियोंकी रुचिको भी सन्तुष्ट करता था जो इनको विभिन्न प्रकारसे प्रयोगमें लाते थे। स्वादिष्ट भोजन तथा भाँति-भाँतिके मद्यकी प्रचुरता थी और मद्यपोंकी भरमार। व्यापार फल-फूल रहा था और स्थल-मार्गसे बनजारोंके दल तथा जलमार्गसे सार्थवाह वाणिज्य-द्वारा प्राप्त अतुल

सार्वजनिक समृद्धि

सम्पत्ति लाकर उडेल देते थे। व्यापार-मार्ग बराबर चालू रहते थे। देशमें भरे नगर कोलाहलमय और जन-संकुल थे। राज-पथके दोनो किनारो पर दुकानें पंक्ति-बद्ध थीं और भीड़-भाड़वाले बाज़ारोंमें धनी क्रेता खरीद करने इधर-उधर घूमते थे जहाँ उन देशोंके छोटे-बडे आयात सामानोंके ढेर पड़े थे जिनके साथ भारतका व्यापार खूब चल रहा था। अब हम जनताकी आर्थिक अवस्थाका विवेचन अलग-अलग शीर्षकोंके साथ करेंगे।

राष्ट्रिय धन

राष्ट्रिय धनके नीचे लिखे स्रोत थे। लोगोंके जीवन-निर्वाह एवं राज्य-करका मुख्य स्रोत कृषि[1] थी। गोचर[2] भूमि कोटि-सस्यक[3] गायों और दूसरे पशुओंको घास देती थी। घाट-करकी[4] आय प्रभूत थी; वाणिज्य-व्यवसाय से अतुल धन आता था और जंगलोंसे हाथी मिलते थे जो युद्धके काममें आते और उनके दाँतोंके विविध प्रयोग होते थे। बड़ी-बड़ी खनियोंसे[5] बहुमूल्य पत्थर और धातु, हीरे, संगमर्मर और सोना निकलते थे। सागर[6] मोती, शंख, विविध शुक्तियों तथा मूँगे पानेके भण्डार थे। इसी प्रकार कुछ नदियोंमें मोती[7] पाये जाते और उनकी बालूमें सोनेकी धूलि[8] मिलती थी (कनकसिकता)।

कृषि

विस्तृत भू-भाग, जिससे राज्य-कोषमें प्रभूत आय संग्रहीत होती थी और जो देशकी बढ़ती हुई जन-संख्याका अन्नदाता था, समुद्रतटों तक फैला हुआ था। कई फसलों[9] (शस्य) की खेती होती और उपजायी जाती थी। भारतके भीतर तथा बाहर बोये तथा उपजाये जानेवाले विविध अन्नोंमें जिनका कालिदास

---

१ मेघ० पू०, १६। २ वार्ता रघु०, १६.२। ३ गाः कोटिशः वही, २.४९। ४ वही, १६.२; कुमा०, ८.३४। ५ रघु०, ३.१८, १७.६६, १८.२२; माल०, ५.१८। ६ रघु०, ३.९, ४.५०, १०, ३०, ८५, १३.१३, १७; ऋतु०, ४.४; माल०, १.६। ७ रघु०, ४.५०। ८ मेघ० उ०, ४। ९ रघु०, १०, ५९, १७.६६।

संकेत करते हैं ये हैं, यव,[1] यवांकुर,[2] अनेकों प्रकारके धान,[3] ईख,[4] तिल[5] और केसर[6]। अपनी-अपनी बाटकी उपयुक्त मिट्टीमें उक्त अन्न बहुतायतसे बोये और काटे जाते थे। अतएव पंजाब और उत्तर-प्रदेशकी ऊँची भूमिमें गेहूँ और जौकी उपज होती होगी जबकि बिहार, बंगका निम्न समतल भू-भाग तथा दाक्षिणात्यकी मालभूमिमें धानकी फसल लहराती थी। हमें धानके शालि,[7] कलमा[8] और नीवार[9] कई प्रकारोंका उल्लेख मिलता है। ईखसे गुडकी[10] (गुडविकार) अनेक प्रक्रियाएँ (विकार) निकलती थी। आम्रवनकी तराईके एक विशिष्ट भागमें अनमोल केसर[11] उपजता था। माल[12] प्रदेशके हालमें जुते खेतोंसे निकलनेवाली मधुर गन्धकी बात हम पढ़ते हैं।

ईखके अतिरिक्त केवल एक खाद्यान्न चावलका ही संकेत बार-बार और चावसे किया गया है। कालिदास भिन्न प्रदेशोंमें इनको भिन्न-भिन्न ऋतुओंको जानते हैं। बंगाल, ब्रह्मदेश और अन्य स्थानोंमें कार्तिकसे पौष तक अगहनी धानकी फसल कट जाती है जैसा कि 'ऋतुसंहार'[13] में वर्णन है, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि बंगालकी इनके पूर्व ही आषाढ़से भाद्रपद तक कटनेवाली फसलका परिचय उनको नहीं है। कमसे कम वे इसका संकेत तो नहीं ही करते हैं। वे इसकी विविध जातियाँ शालि,[14]

---

१ बीजांकुर (टीका-कार) रघु०, ७.२७। २ यवांकुर वही, १०.४३, १३.४६; कुमा०, ७.१७। ३ रघु०, ४.२०, ३७; ऋतु०, ३, १, १०, १६, ४.१, ७, १८, ५.१, १८। ४ रघु०, ४.२०, ऋतु०, ५.१, १६; शाकु०, पृ० २२४। ५ शाकु०, पृ० ६४। ६ रघु०, ४.६७; ऋतु०, ४.२, ५.६, ६.४, १२। ७ रघु०, ४.२०; ऋतु०, ३.१, १०, १६, ४.१, १७, १८, ५.१, १६। ८ रघु०, ४.३७। ९ वही, १.५०; शाकु०, १.१३। १० प्रचुरगुडविकारः ऋतु०, ५.१६। ११ रघु०, ४.६७। १२ मेघ० पू०, १६। १३ कालिदासका जन्मस्थान, पृ० २४। १४ पूर्वका उल्लेख।

कलमा[1] और जगली अवस्थामें नीवारको[2] जानते है। धानकी कलमा जाति तथा धानके खेतके साथ ईखके खेतोको हमारा कवि[3] जानता है। कश्मीरकी शारदीय फसल 'शालि' धानकी उपजके लिए प्राचीन कालसे ही प्रसिद्ध है। शारदीय धानके खेतो और ईखसे सम्बद्ध गीतोका उल्लेख रघुवशमें[4] है। कृषि-कार्यके लिए उत्सुकतासे पावसकी प्रतीक्षा की जाती थी और माल देशकी स्त्रियाँ हमें वर्षारम्भकी प्रतीक्षा करती मिलती हैं जो जानती थी कि बादल ही वर्षाके कारण है। आषाढके आरम्भमें ही[5] माल देशके खेतोमें हल फिर गये थे। आक्ससकी[6] तराईमें केसरकी कृषिका उल्लेख है।

कृषिके अन्य सहायक भी थे। बैल भूमि जोतनेके काममें आते थे और साँड,[7] खच्चर[8] और ऊँट[9] भारवाही पशु थे। पहाड़ियोंके चरागाहोंमें[10] चरनेवाली भेड़ोंसे राष्ट्रको गर्म ऊन[11] (पत्रोर्ण) की प्राप्ति होती थी। इन गोचर-भूमियोमें पशु अपना चारा लेते थे। पुल बनानेके अर्थमें कविने[12] 'सेतु'[13] शब्दका प्रयोग किया है। कौटिल्य, सुतरां, इसका प्रयोग सिंचाईके[14] अर्थमें भी करता है।

कृषिके सहायक

'वार्त्ता'का[15] सकेत पशुपालनसे था। इससे साँड, बैल तथा गायोकी उत्कृष्ट नस्लोंकी अवश्य वृद्धि हुई होगी। हम करोड़ो[16] गायोको राष्ट्रिय

---

१ वही। २ वही। ३ रघु०, ४.२०, ३७। ४ वही, २०। ५ मेघ० पू०, १६। ६ रघु०, ४.६७। ७ ककुद्मन्त. वही, ४.२२। ८ वामी वही, ५.३२। ९ उष्ट्र वही। १० वही, १६.२। ११ पत्रोर्ण माल०, ५.१२, वही, पृ० १०५; उर्णामयं कुमा०, ७.२५। १२ रघु०, १६.२। १३ वही, (४.३७), १६.२; कुमा०, ८.३४। १४ अर्थ-शास्त्र, खण्ड ३, अध्याय ८ और खण्ड ७, अध्याय १४। १५ रघु०, १६, २। १६ वही, २.४९।

सम्पत्तिका निर्माण करते पड़ते हैं। घासके मैदानोंसे अश्व, मवेशियों तथा खच्चरोंको चराई मिलती थी और शुष्क प्रदेश तथा मरु-देशोंमें ऊँट निवास करते थे।

गोचरभूमि

लोगोंके मुख्य व्यवसाय-कर्म निम्न प्रकार थे, यानी, कृषि (जिसका जिक्र ऊपर हो चुका है); सुवर्णकारों तथा अन्य शिल्पियोंके[1] धातु-कर्म; तन्तुवाय-कर्म जिससे सूती एवं रेशमी ऐसे महीन कपड़े तय्यार होते थे जो साँस[2] लगनेसे उड़ जाते थे और ऐसे मोटे और मजबूत सूती कपड़े भी जो खोमे[3] बनानेके काम आते थे; वाणिज्य,[4] सैनिक-कर्म,[5] मत्स्यवधन[6], धीवर-कर्म,[7] जाल-द्वारा[8] अन्य जीविकोपार्जन, राज्य-सेवा,[9] ललित कलाका[10] शिक्षण, पौरोहित्य[11], नृत्य-गीत[12], औद्यानिक[13] कर्म, व्याध[14]-वृत्ति, गृह-शिल्प[15] इत्यादि।

व्यवसाय कर्म

खानों[16] और उनसे निकलनेवाले द्रव्योंके बहुधा आनेवाले सन्दर्भोंसे हमें पता चलता है कि खनन-क्रिया विस्तृत रूपसे की जाती थी और खानोंसे बहुमूल्य पत्थर, धातु और दूसरे खनिज द्रव्य निकाले जाते थे। कवि निम्नलिखित मणियोंके[17] नाम लेता है—वज्र[18] (हीरा), पद्मराग[19]

---

१ शिल्पी माल०, पृ० ४। २ निःश्वासहार्यांशुक रघु०, १६.४३। ३ वही, ५.४१, ४६, ६३, ७३, ७.२, ६ ६३, १३ ७६, १६.५५, ७३; विक्र०, पृ० १२१। ४ वणिजं माल०, १.१७। ५ सांपरायिक० रघु०, १७.६२। ६ मत्स्यवन्धन शाकु०, पृ० १८३। ७ धीवर वही। ८ जालोपजीवी वही। ९ पूर्वविवेचित सैन्य, मन्त्री तथा अन्य अधिकारी। १० माल०, पृ० १७। ११ पशुमारणकर्मदारुणा शाकु०, पृ० १८३। १२ पूर्वका दरबारियोंका उल्लेख। १३ मेघ० पू० २६। १४ शकुनि-लुब्धकः शाकु०, पृ० ५६। १५ रघु०, १६.२८। १६ वही, ३.१८, १७.६६, १८.२२; माल०, ५.१८। १७ रघु०, ३.१८, १३.५३, ५६, १८.४२, १६.४५; कुमा०, ८.७५; मेघ० उ०, ४, १६; माल०, ५.१८। १८ रघु०, ६.१६। १९ वही, १८.५३, ५६।

(लाल मणि), पुष्पराग[1] (पोखराज), महानील[2] या इन्द्रनील[3] (नीलम), मरकत[4] (पन्ना), वैदूर्य[5], स्फटिक,[6] मणिशिला,[7] सूर्यकान्त[8] और चन्द्रकान्त[9]। सूर्यकान्त तथा चन्द्रकान्त स्फटिकके समान ही थे। चन्द्ररश्मिके[10] छूते ही चन्द्रकान्तसे जलकी बूँदें स्रवित होने लगती थीं जब कि 'सूर्यकान्त सूर्यकी किरणोंका स्पर्श पाते ही आगकी लपटें उगलने लगता था जो अरण्योंको भस्म कर देती थी।'[11] यह उस सर्वपरिचित आतशी-शीशेकी ओर संकेत करता है जिसको सूर्यकी किरणोंके सामने यदि किसी काष्ठके ऊपर रखा जाय, तो उसे जला डालता है। जैसा कि कुछ लोगोंकी मान्यता है स्फटिकमण्डल काल्पनिक गुणवाला कोई ख़याली पत्थर नहीं था, किन्तु यह एक प्रकारका दर्पण था और इससे सिद्ध होता है कि जब कालिदासने अपने अभिज्ञान शाकुन्तलकी[12] रचना की तब भारतीय इस दर्पण या स्फटिक-गुणोंसे अपरिचित नहीं थे। खानोंसे निकाले जाते थे, सोना[13] (स्वर्ण, हेम, हिरण्य, कनक, कञ्चन और द्रविण), सोनेकी धूल[14] (कनकसिकता) जिससे अधिकांश आभूषण निर्मित होते थे, चाँदी[15] (रजत), ताँबा[16] (ताम्र) और लोहा[17] (अय) जिससे युद्धके आयुध और ढले हुए लोहेके हथौड़े[18] (अयोधन) आदि आवश्यक पदार्थ बनाये जाते थे। हमें अन्य एक धातुका उल्लेख मिलता है, कदाचित् अभ्रक,

---

१ वही, ३२। २ वही, ४२। ३ वही, १३.५४, १६.६९; मेघ० पू०, ४६; मेघ० उ०, १४। ४ मेघ० उ०, १३। ५ कुमा०; १.२४, ७.१०; ऋतु०, २.५; मेघ० उ०, १३। ६ रघु०, १३.६९; कुमा०, ६.४२; मेघ० उ०, १६। ७ कुमा०, ६.३८। ८ रघु०, ११.२१; शाकु०, २.७। ९ मेघ० उ०, ७। १० वही। ११ शाकु०, २.७। १२ वही। १३ कुमा०, ७.५०; रघु०, १.१०, ३०, २.३६, ५.२, २९, ४.७०, ६.७९; मेघ० उ०, ४, १६। १४ मेघ० उ०, ४, (शायद कुछ नदियोंके बालूसे भी)। १५ ऋतु०, २.१३। १६ कुमा०, १.४४, ६.५१। १७ रघु० १४.३३। १८ वही।

मैगनिज या शीशेका[1], जिससे दर्पण बनाये जाते थे। खानों और पहाड़ों-से निकलनेवाले दूसरे पदार्थोंके भी उल्लेख हैं। उनके संकेत ये हो सकते हैं—सिन्दूर[2]- (लाल सीसा[3]), मन शिला,[4] गैरिक[5] (धातुराग, धातुरस, धातुरेणु) और शैलेय[6]। विशिष्ट शिलाओंके हमें पर्याप्त वर्णन नहीं मिलते तथापि बिखरे हुए संदर्भोंसे इनका पता मिलता है, यानी, शिला[7] जिससे पत्थर और रेन-चट्टानोंका बोध होता है, स्फटिक शिला, मणिशिला और गेरुशिला[8] (अद्रिगैरिक)।

कविने दक्षिणके पाण्ड्य देशकी ताम्रपर्णी नदी और भारतमहासागर का उल्लेख उनके अमूल्य तथा उपयोगी उत्पादनोंके लिए किया है। सागर[10]

सामुद्रिक साधनों से आय

तो वह गर्भाशय[11] माना गया है जिससे रत्नकी उत्पत्ति होती थी। मोतीके[12] अतिरिक्त वे मुक्ता, शख-समूह[13] (शंखयूथम्) जो बहुधा शान्ति और युद्ध-कालमें काममें आते थे, शुक्ति[14] (शुक्ति—भापा सीपी) और मूंगा[15] (विद्रुम) भी देते थे। ताम्रपर्णीको मोतीका[16] आकर कहा गया है। स्मरण रखना चाहिए कि इस साधनसे आज भी मोतियोंकी प्राप्ति होती है।

---

१ वही, १४.३७, १७.२६, १९ २८, ३०; कुमा०, ७.२२, ३६, ८.११; शाकु०, ७ ३२। २ ऋतु०, १.२४। ३ रघु०, ६.५५, ७.८; कुमा०, ५.५१; ऋतु०, ४.१७; माल०, ३.५। ४ रघु०, १२.८०; कुमा०, १. ५५। ५ रघु०, ५.७२, ४४, ४.७१; कुमा०, १.७, ६.६१; मेघ० उ०, ४२। ६ रघु०, ६.५१; कुमा०, १.५५। ७ मेघ० उ०, ४२। ८ स्फटिक रघु०, १३.६९; कुमा०, ६.४२; मेघ० उ०, १६। ९ मेघ० उ०, ४२; रघु०, ५.७२। १० रघु०, ३.९, १०. ८५। ११ वही, ६.१४, ७९; मेघ० उ० ५। १२ रघु०, १३.१७, १९ ४५; कुमा०, ७ १०; माल०, १.६। १३ रघु०, १३.१३; ऋतु०, ३.४। १४ रघु०, १३.१७; माल०,' १.६। १५ रघु०, ६.१६, ३१। १६ वही, ४.५०।

घनी अटवियो और विशाल अरण्योंसे गृहनिर्माणके लिए शहतीरो और जलावनके सिवा रुरु[1], कृष्णसार,[2] हिरणके पवित्र मृगचर्म तथा दूसरे चर्म,[3] कस्तूरी[4] (मृगनाभि), लाख[5] (लाक्षा) जो स्त्रियोंके अंगरागके काममें आते, और चमरी[6] जो राजत्वके चिह्नके रूपमें सर्वत्र व्यवहारमें आती है और जिससे चँवर बनाया जाता है। कलिंग[7] और कामरूपके[8] अरण्योंसे हाथी पकड़कर लाये जाते थे। उनका सम्बन्ध अंग[9] देशसे भी बताया गया है। शायद ये अरण्य जिनसे हाथी लाये जाते थे, सुरक्षित रहते थे। ध्यान रखने योग्य है कि कौटिल्य हाथियों[10] के सुरक्षित अरण्यका संकेत करता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कालिदास आखेट किये जानेवाले पशुओंमें गजोको अपवादित[11] रखते है। युद्धके समय गजोको काममें लाया जाता था और उनसे भारतीय चतुरंगिणी[12] सेनाके पारम्परिक चार अंगोंमेंसे एकका निर्माण होता था। मरने पर उनके दाँतोंके[13] मूल्यसे हाथी दाँतसे बनी वस्तुओंके बाजारमें आय होती थी। नदीकी तरियो,[14] समुद्रकी नौकाओं[15] तथा युद्ध[16] और वाणिज्यके[17] लिए देशके भीतर[18] और सागरमें[19] चलनेवाले पोतोंके निर्माणके उपादान भी अरण्योंसे प्राप्त होते थे। हिमालय विविध प्रकारके धातुज चूर्ण[20]

अरण्य

---

१ वही, ३.३१। २ वही, ४.६५। ३ ऋतु०, ६.१२। ४ वही, ६.१३। ५ कुमा०, १.१३। ६ रघु०, १६.२। ७ वही, ४.४०। ८ वही, ८३। ९ विनीतनागः किल सूत्रकारैः वही, ६.२७। १० अर्थशास्त्र, खण्ड, ७ अध्याय १४। ११ प्रतिनिषिद्धम् रघु०, ९.७४, अवध्यो वही, ५-५०। १२ वही, ४.३०, ४०, ६.५४। १३ दन्त वही, ५.७२, १७.२१। १४ उडुप वही, १.२। १५ वही, ४.३१, १४.३०, १६.५१, ६८, १७.८१। १६ वही, १४-३०। १७ शाकु०, पृ० २१९। १८ रघु०, ४.३६। १९ शाकु०, पृ० २१९। २० रघु०, ४.७१।

प्रदान करनेके अतिरिक्त शाल[1] और एक मुख्य तेलके स्रोत राल (निर्यास, क्षीर) को उत्पन्न करनेवाले देवदारु[2] को भी उपजाता था। मलायाकी तराईमें जांगल वृक्षोंसे, इलायची[3] (एला), लौंग[4] (लवंग) और काली मिर्चं[5] (मरीच) जैसे मसाले और पानके[6] पत्ते (ताम्बूलवल्ली) उत्पन्न करते थे। वन और वाटिकाओंमें फल देनेवाले वृक्ष भी थे। तटीय प्रदेशोंमें अन्यत्र[7] कथित गरीवाले और गुठलीवाले फल उपजाये जाते थे। मलाया-घाटीके चन्दनवनसे चन्दन[8] प्राप्त होता था।

जैसा कि महाश्रेष्ठियो द्वारा सचालित खूब चलनेवाले व्यापारके सकेतसे प्रकट होता है जो देशको धनसे[9] पाट देते थे (धारासारो) और जिनके सम्बोधनमें राजा बडे सम्मान-सूचक[10] शब्दोका प्रयोग करता था, व्यापार तथा वाणिज्य (वाणिज्यम्[11]) द्रुत गतिसे उन्नति कर रहे थे। दो प्रकारके वणिक्-पथ[12] थे—स्थल और सामुद्रिक। रघु सागर-पथसे स्थल-पथको[13] (स्थलवर्त्मना) पसन्द करता है। इससे यह फलित होता है कि पारसिको तक पहुँचनेके लिए स्थल-पथके अतिरिक्त सामुद्रिक मार्ग भी था जिसको किसी विचारसे उसने परित्याग कर दिया। कालिदासके ग्रन्थोका विख्यात टीकाकार मल्लिनाथ कहता है कि स्थल-मार्गको अच्छा समझनेके पीछे धार्मिक[14] विचार थे जिनके अनुसार समुद्र-यात्रा अपास्य थी। किन्तु यह शायद ही विश्वसनीय है क्योंकि कालिदासकी रचनाओंमें इसके प्रभूत प्रमाण है कि उनके समयमें बडे-बडे सामुद्रिक कार्य-कलापोका प्रचार था। इसके अतिरिक्त उनका सम-सामयिक

---

१ वही, १.३८। २ मेघ० उ०, ४४। ३ रघु०, ४.४७। ४ वही, ६.५७; कुमा०; ८.२५। ५ रघु०, ४.४६। ६ वही, ६.६३, १३.१४, ४६, ४.४२। ७ वही, ४.४२, खर्जूरी ५७ इत्यादि, पूर्व देखिये वनस्पति-पशु। ८ वही, ४७, ५१। ९ माल०, १.१७। १० विक्र० ४.१३। ११ शाकु०, पृ० २१९। १२ मार्ग रघु०, ५.४१। १३ वही, ४.६०। १४ समुद्रयानस्य निषिद्धत्वादिति भावः वही।

फाहियान[1] लिखता है कि वह समुद्र-पथसे एक जल-पोतमें चीन लौटा जिसमें दूसरोंके सिवा भागवतधर्मके उन्नायक ब्राह्मण भी थे, जिन्होंने अनेक-दिवस-व्यापी तूफ़ानका कारण बताया था, वहाँ एक विदेशी बौद्धकी उपस्थिति। फिर इसके केवल एक शतीके उपरान्त ही बाली, जावा और सुमात्राके पड़ोसी द्वीपोंको भारतीयोंके सागरिक कार्योंके द्वारा उपनिवेश बनाया गया। गुप्तोंसे बहुत काल पूर्वमें भी अरब, मिश्र और रोमके साथ प्रचुर रूपमें सामुद्रिक वाणिज्य चलता था। 'दि पेरिप्लस आफ दि इरेट्रियन सी', प्लीनी और अनेक दूसरोंने क्रमशः अपने वर्णनोंमें इसका उल्लेख किया है। अतः मल्लिनाथकी व्याख्याकी सत्यता स्वीकार नहीं की जा सकती। ऐसे विजेताके लिए, जिसने स्थल-मार्गसे समस्त देशको रौंद डाला था, उसकी विजय-यात्राके मध्यमें स्थल-पथसे यात्रा करनेके प्रसंगके आनेका कोई अर्थ नहीं है जबतक हम यह न मान लें कि तटपर त्रिकूटसे एक सामुद्रिक मार्ग भी था। शायद यहाँ पारस तथा दूसरे स्थानोंमें आनेके लिए लोग जल-पोतों पर सवार हो समुद्र-यात्रा करते थे। यह भी उल्लेख्य है कि पड़ोसमें कल्याण एक समृद्ध नौकाश्रय था। देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक जानेवाला स्थल-मार्ग महापथ,[2] राजपथ[3] और नरेन्द्रमार्ग[4] आदि विविध नामोंसे पुकारा जाता था। जैसा कि मालविकाग्निमित्रके[5] विवरणोंसे प्रमाणित होता है देशका आन्तरिक वाणिज्य बहुत चलता हुआ था यद्यपि किसी-किसी प्रदेशमें राजमार्ग लुटेरोंके[6] भयसे मुक्त नहीं था और हम कभी-कभी वणिग्-गणोंके लूटे[7] जानेकी सूचना राजातक पहुँचायी जानेकी बात भी पढ़ते हैं। देशका आन्तरिक वाणिज्य-पथ रघुकी विजय-[8] यात्रामें उसके दक्षिणाभिमुख अभियानका मार्ग लक्षित हो सकता है।

---

१ फाहियान्स रेकार्ड आफ दी बुद्धिष्टिक किङ्डम, जेम्स लेग्गेका अनुवाद, पृ० ११३। २ कुमा०, ७.३। ३ रघु०, १४.३०। ४ वही, ४.६७। ५ स चाटव्यन्तरे निविष्टो गताध्वा वणिग्गणः माल०, पृ० ६८, १.१७। ६ वही, ५.१०। ७ गताध्वा वणिग्गणः वही, पृ० ६८। ८ रघु०, ४।

भोजोंके देश (वरार) पर अजके आक्रमणका मार्ग दक्षिण-मध्य-भारतको[1] जानेवाला शायद दूसरा पथ था। 'मेघदूत'में[2] मेघरूपी दूतन जिस मार्गका अवलम्बन किया था वह कदाचित् तीसरा मार्ग था, किन्तु इस मार्गको कुछ सशोवन करनेके वाद ही स्वीकार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, उज्जैनी अवश्य ही उत्तरकी ओर जानेवाले राजपथमें थी यद्यपि जिस राजपथसे मेघ-दूत चलता है उससे यह दूर पड जाती है और दूतको, कविके सुखद निवास तक पहुँचनेके लिए अपने मार्गको मोडना[3] पडता है। स्वभावतः मेघको सीधे उत्तरका मार्ग पकडना चाहिए था। कारण, घने जगल और उच्च पर्वत उसके उत्तुग मार्गमें किसी प्रकारकी वाधा नही उपस्थित कर सकते थे। किन्तु किसी व्यापारी या फेरीवालेके लिए अलघ्य रुकावटें प्रमाणित हो सकते थे। अत इस पथमें उज्जैनी भी पड़ती थी।

'पेरिप्लस' सचमुच इसे इसी मार्गमें अवस्थित करता है। वह लिखता है[4] "वरिगजसे पूर्व दिशामे एक नगर है जिसका नाम 'ओजेने' है जो पहले राजनगर था, जहाँ राजा रहता था। इस स्थानसे वरिगजको हर प्रकारकी वस्तुएँ स्थानीय उपभोग या भारतके अन्य भागोको निर्यात करनेके लिए लायी जाती है, चकमक पत्थर, चीनके वर्तन, महीन मलमल और फूलोंके रगोमे रगी तथा साधारण प्रकारकी प्रभूत मात्रा में रूई। यह समुद्र तटपर ले जानेके लिए प्रोक्लेजसे होकर देशके ऊपरी भू-भागसे स्फाइकनार्ड, कौस्टस उडेलियमका आयात करता है।" अतएव उज्जैनी उत्तरके उन सभी देशोसे सम्वन्धित थी जिनका वाणिज्य भारतके पश्चिमी तटके भागोंसे होकर पश्चिमी विदेशोंके साथ चलता था। सम्भव है, और अधिक दक्षिणके सोपर तथा कल्याणके पोताश्रयोंसे भी इसका सम्वन्ध हो। पैदल चलनेके मार्ग पर यात्री वहुवा चलते रहते थे और वे यात्राके लिए सामान्यत. सुरक्षित थे।

---

१ वही, ५.४१। २ पू० मेघ०। ३ वक्रः पन्था यदपि भवतः मेघ० पू०, २७। ४ विभाग; ४८।

जल-पथसे होनेवाले वाणिज्यके प्रमाणोंकी बहुलता है। हम दिखला चुके हैं कि पारस जानेका एक जल-पथ था जिससे पोत जाया-आया करते थे जिससे जाना रघुने पसन्द नहीं किया। कहा जाता है कि वंगदेश-निवासियोंके पास युद्ध-पोत[1] थे; वास्तवमें यह देशके भीतरी जल-मार्गमें इनके चलनेकी ओर संकेत है। दूसरे लेखोंसे हम निष्कर्ष निकालते हैं कि भारतका सिंहल और ब्रह्मा तथा चीनके पड़ोसी द्वीपों विशेषतः 'जव' तथा 'बाली' के साथ वाणिज्य-विषयक आदान-प्रदान था। कालिदासके उल्लेखोंमें छोटी नौकाओं[2] और किनारों पर चलनेवाली भाँति-भाँतिकी बड़ी नौकाओं[3] जिनमें एकका आकार चन्दोवा[4] (विमान) के समान था जो राज-मर्यादाके उपयुक्त थी, ज़िक्र आता है। समुद्रमें चलनेवाले जल-पोत भी थे, जो कभी-कभी सामुद्रिक चट्टानोंसे टकरा कर नष्ट[5] भी हो जाते थे। एक मुख्य प्रकरणमें कालिदास वाणिज्यके लिए वणिकोंके[6] समुद्र-यात्रा करनेका संकेत करते हैं। रघुवंशके त्रयोदश सर्गके प्रथम सत्रह पद्य निस्सन्देह एक सामुद्रिक यात्राके वर्णन हैं। रघुवंश, ६.५७ में आये 'द्वीपान्तर' वाक्यांशसे कविका लक्ष्य मसालेके[7] द्वीपोंसे है। भारतमें आयात होनेवाली चीनकी[8] रेशम सम्भवतः समुद्र-पथसे ही आती होगी।

भारतीय वाणिज्यका वर्णन आयात तथा निर्यात दो शीर्षकोंमें किया जा सकता है। निम्नलिखित सामान विदेशोंसे यहाँ आते थे। चीनसे एक

आयात

प्रकारकी रेशम आती थी जो 'चीनांशुक'[9] के नामसे प्रसिद्ध थी। पश्चिमवाले[10] (पाश्चात्य.) पारसिक[11] तथा यूनानी[12] दोनोंको कविने घुड़सवारके रूपमें (अश्वसाधनाः)

---

१ नौसाधनोद्यतान् रघु०, ४.३६। २ उडुप वही, १.२। ३ वही, ४.३६, १४.३०। ४ नौविमान वही, १६.६८। ५ नौव्यसने विपन्नः शाकु०, पृ० २१९। ६ समुद्रव्यवहारी सार्थवाहः वही। ७ द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैः रघु०, ६.५७। ८ कुमा०, ७.३; शाकु०, १.३०। ९ वही। १० वही, ४.६२। ११ वही, ६०-६५। १२ अश्वानीकेन यवनेन माल०, पृ० १०२।

उल्लेख किया है। अतएव यह स्वाभाविक है कि पश्चिमसे सुन्दर घोड़े यहाँ लाये जाते थे। भारतमें काममें आनेवाले 'वनायु'[1] जातिके उत्कृष्ट अश्वोंका उल्लेख कालिदास करते हैं। कौटिल्य[2] भी वनायुको अश्वोंके लिए विख्यात लिखता है। नन्दलाल दे ने वनायुका एकीकरण अरबके[3] साथ किया है। अरब अपने घोड़ोंके लिए विख्यात है। कम्बोज[4]से भी घोड़े आते थे। लौंग आजकलकी भाँति अन्य द्वीपोंसे[5] भी आता था। कालिदासके वर्णनोंके पूरक स्वरूप ई० सन् की प्रथम शतीके समापक वर्षोंका एक मुख्य आधिकारिक प्रमाण यहाँ उपस्थित किया जा सकता है। 'दि पेरिप्लस आफ दि इरिट्रियन सी' में भृगुकच्छ, कल्याण और दूसरे पश्चिमी तथा पूर्वी तटोंके पोताश्रयोंसे होकर विदेशोंसे भारतमें आनेवाले आयातोंकी एक पूरी सूची सुरक्षित है। इस प्रकार नम्बनुस राज्यमें आयात होनेवाले निम्न प्रकार थे, यानी, शराब; विशेषतया इटालियन ताँबा, लायोडिसिय तथा अरेबियन भी, टीन, सीसा, मूँगा, पुष्पराग, महीन वस्त्र और सब प्रकारके अनुत्कृष्ट पोशाक, (एक हाथ चौड़ाईके), चटकीले रंगवाले कमरबन्द, राल (स्टोरैक्स), मिष्टतृण (क्लोभर), चकमक पत्थर, लाल (रिअल्गर), नीलम (एन्टिमोनी), सुवर्ण तथा रजत मुद्राएँ (मुद्रा-विनिमयमें लाभप्रद), लेप, कीमती नहीं, थोड़ा, राजाके लिए भेंटकी सामग्रियाँ, चाँदीके मूल्यवान बर्तन, गवैये लड़के, हर्म्यके लिए सुन्दरी कुमारियाँ, अच्छे मद्य, महीन कपड़ोंके पोशाक और अच्छेसे अच्छे पसन्दके लेप-द्रव्य। चेर और पाण्ड्य राज्योंके आयात थे—बड़ी मात्रामें मुद्राएँ, पुष्पराग, महीन वस्त्र (अधिक नहीं), चित्रित मखमल, नीलम, मूँगा, अपरिष्कृत शीशा, ताँबा, टीन, सीसा, मद्य (कम मात्रामें), लाल, पीतराग (ओर्पिमेन्ट) और गेहूँ। भारतके पूर्वी तट पर जहाँ पश्चिमी तट, गंगा और चीनसे आये पोतोंके द्वारा दमि-

---

१ रघु०, ५.७३। २ अर्थशास्त्र, खण्ड २, अध्याय ३०। ३ ज्यो० डिक्ट० आफ एन्क० एन्ड मेड० इण्डिया, पृ० २२। ४ रघु०, ४.६९-७०। ५ वही, ६.५७।

रिक और उसके पड़ोसी देशोंमें बने प्रत्येक पदार्थ और जिनमें अधिकांश मिश्रसे आये हुए होते थे, ग्रहण किया जाता था। यह मुख्यतया ध्यान देने योग्य है कि यह महान् कृति पूर्वी तट पर और आगे उत्तरमें, गंगाकी चर-भूमि या हिमालयके प्रदेशमें आयात होनेवाली किसी वस्तुका उल्लेख नहीं करती।'[1]

निर्यात

किन वस्तुओंका दूसरे देशोंमें निर्यात होता था, हम निश्चित नहीं हैं; किन्तु इतना तो नसन्देह कहा ही जा सकता है कि अन्न-बाजारका आवश्यकतासे अधिक भाग और क्योंकि भारत सदासे अपने मोती निकालनेके लिए विख्यात रहा है, खनियोंके अमूल्य खनिज तथा मोती निर्यात होते थे। इनके अतिरिक्त भारतके प्रसिद्ध मसाले[2] उन देशोंकी चाहकी वस्तु थे जहाँ इनकी उपज नहीं होती थी और जिनके साथ भारतका व्यापारिक सम्बन्ध था। क्योंकि सभी ऋतुओंके वस्त्रोंका प्रचुरतासे व्यवहार होता था जो इतने महीन सूतोंसे बीनकर तय्यार होते थे जो साँस[3] लगनेसे भी उड़ जाते थे, हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वस्त्रोंका भी निर्यात होता था। ध्यान देने योग्य है, कि इस प्रकारके कपड़ेके भारतसे रोममें निर्यातका उल्लेख प्लीनी-द्वारा हुआ है। 'पेरिप्लस आफ दि इरिट्रियन सी'[4] द्वारा उद्धृत सूची विस्तृत है। वह लेखबद्ध करता है कि 'नम्बुसका राज्य अपने नौकाश्रयोंसे भारतमें उत्पन्न या पश्चिमोत्तर, उत्तर और उत्तर-पूर्वके देशोंसे आये निम्नलिखित वाणिज्य-वस्तुओंका निर्यात करता था।'

हम देशीय वाणिज्यकी द्रुतगामिताकी ओर संकेत कर चुके हैं। कालिदास कामरूप[5] (आसामका पहाड़ी प्रदेश) के खनिज-साधन-सम्पन्नता

---

१ दी प्रिप्लस ऑफ दी इरीट्रियन सी, स्कौफ का अनुवाद, पृ० २८७-२८८। २ रघु०, ४.४६, ४७; कुमा०, ८.२५। ३ रघु०, १६.४३। ४ स्कौफका अनुवाद, पृ० २८७-८८। ५ रघु०, ४.८४।

का उल्लेख करते हैं जिससे हीरे प्रभूत मात्रामें प्राप्त होते थे। उन्होंने कई स्थानोंकी खनियोंका[1] भी उल्लेख किया है। फिर वे ताम्रपर्णी[2] तथा भारतीय सागरसे मोती निकालनेका भी संकेत करते हैं। ये हीरे, मोती और शंख, शुक्ति तथा मूँगाके समान सागरसे उपलब्ध होनेवाले दूसरे पदार्थ अवश्य ही भारतके दूर-दूरके बाजारोंमें लाये और बेचे जाते होंगे जहाँ उनकी आवश्यकता होगी। इसी क्रमसे हाथी भी कलिंग[3], अंग[4] तथा कामरूपसे[5] भारतके दूसरे भागोंमें पहुँच जाते थे। यह उल्लेख मनोरंजक हो सकता है कि कौटिल्यने[6] भी कलिंगको हाथी पानेका स्रोत लिखा है। नगरमें बाजार[7] (विपणी) क्रेताओंसे भरा था। खरीदनेके अर्थमें 'निष्क्रय'[8] शब्दका प्रयोग किया जाता था। राजपथके[9] दोनों किनारे ऊँची-ऊँची दुकानें थीं। दूसरी दुकानोंके अतिरिक्त हम शराबकी[10] दुकानोंका भी नामोल्लेख पाते हैं। सड़क पर लोग इधर-उधर अपनी वस्तुओंको बेचते तथा खरीद करते घूमते थे, जब कि नीचे नदीमें नावें चलतीं और लोग नावोंमें बैठकर इस पारसे उस पार जाते थे।[11] बाजारका रास्ता 'आपण मार्ग'[12] कहलाता था।

देशीय वाणिज्य

इस प्रकार देशीय एवं विदेशीय वाणिज्य भारतीय वणिकोंकी व्यस्त चिन्ता थी। वणिक सदा समुद्र-यात्रा[13] में जाते और समुद्रकी सारी आपत्तियोंको साहसपूर्वक झेलते थे। हम अभिज्ञानशाकुन्तलमें[14] हस्तिना-

---

१ वही, ३ १८, १७ ६६, १८.२२; माल०, ५ १८। २ रघु०, ४.५०। ३ वही, ४.४०, ६.५४। ४ वही, ६.२७। ५ वही, ४.८३। ६ अर्थशास्त्र; खण्ड २, अध्याय २। ७ रघु०, ६.४१; माल०, पृ० ३३, ८०। ८ रघु०, २.५५, ५.२२। ९ ऋद्धापणं राजपथं वही, १४.३०। १० शौण्डिकापणं शाकु०, पृ० १८८। ११ सरयूं च नौभिः रघु०, १४.३०। १२ कुमा०, ७ ५५। १३ शाकु०, पृ० २१९। १४ वही।

पुरके एक सुप्रसिद्ध श्रेष्ठीकी पोत-दुर्घटनाका उल्लेख पढ़ते हैं। वणिक्-पथ स्थलपर डाकुओंसे और सागरमें जल-दस्युओंसे सुरक्षित रखे जाते थे और कविके प्रशंसात्मक शब्द हैं—"व्यापारियोंका दल पर्वतोंसे होकर इस प्रकार चलता था मानो अपने घरमें चल रहा हो, नदियोंमें मानो कुओं पर और अरण्योंमे मानो उद्यानमें[१]।" इस प्रकार देशीय वाणिज्य और सामुद्रिक तथा पोत सम्बन्धी क्रियाशीलता राष्ट्रिय आयमें धनकी पर्याप्त वृद्धि करते थे।

मुद्राएँ, तौल और पैमाने

वाणिज्यकी ऐसी उन्नत समृद्धिसे अनुमान होता है कि मुद्रा-विनिमय चलित था। इस सम्बन्धमें सिक्के अनिवार्य हो जाते हैं और हम जानते हैं कि सिक्के लिये और गिने[२] जाते थे। सिक्कोंकी अनुपस्थितिमे चौदह करोड़[३] धनकी गिनती का कोई अर्थ नही हो सकता। सिक्कोमे ही चौदह करोड़ तक का धन सैकड़ो खच्चरों और ऊँटो पर[४] लादकर ले जाया जाता था। 'स्वर्ण'[५] तथा "निष्क[६] देशके प्रचलित सिक्के थे और हमें एक सौ सुवर्ण मुद्राओका[७] संकेत मिलता है जो 'सुवर्ण' के नामसे जानी जाती थी। हमें ज्ञात है गुप्त 'दीनार' तथा 'स्वर्ण'[८] दोनो प्रकारकी मुद्राएँ मुद्रित कराते थे जो बहुत दिनो बाद तक भारतमें प्रचलित थे। चाँदी तथा मिश्रित ताँबेके अन्य छोटे सिक्के भी अवश्य देशमे प्रचलित रहे होगे जिनका कालिदास तो कोई विशिष्ट उल्लेख नहीं करते। चन्द्रगुप्त[९] द्वितीय-द्वारा पश्चिमीय सत्रपोंके परास्त किये जानेके साथ गुप्तोका चाँदीका सिक्का-निर्माण आरम्भ हो चुका था और ताँबेके

---

१ रघु०, १७.६४। २ अर्थजातस्य गणना शाकु०, पृ० २१९। ३ परिसंख्यया कोटिशः रघु०, ५.२१। ४ वही, ५.३२। ५ माल०, पृ० ८८। ६ वही, कुमा०, २.४९। ७ शतसुवर्णपरिमाणां माल०, पृ० ८८। ८ ब्रौन : दी क्वायन्स औफ इण्डिया, पृ० ४५। ९ वही, पृ० ४६-४७।

सिक्के, जो वास्तवमें उसी नरपतिके राज्यकाल[1] तक व्यवहृत रहे, प्रचलित थे। फाहियान[2] लिखता है, बाजारमें चारो ओर कौड़ियोंकी भरमार थी।

कवि अनेक स्थलो पर तौलनेके तराजुओं[3] (तुला) का उल्लेख करता है। एक तौलनेके दण्ड[4] (मानदण्ड.) का भी संकेत है। इस प्रकार मुद्राओंमें मूल्य चुकाये जाते थे और विक्रयकी तरल या अन्य वस्तुएँ तौलकर बेंची जाती थीं, और कपडेके सदृश माप-योग्य लम्बानके पदार्थोंको माप-दण्डसे मापकर बेंचते थे।

उपयोगी कलाओं तथा कारीगरियोंका व्यवहार होता था और दक्ष कारीगर अपने-अपने कामोंको करते थे जिनके लिए उन्होंने विशिष्ट योग्यता प्राप्त कर ली थी। द्रव्योंके काम होते थे और निपुण सुवर्णकारोंके हाथ सुन्दरतम नमूने गढे जाते थे। सुवर्णका परीक्षण अग्निमें[5] होता था। अलकारोंका प्रयोग बहुलतासे होता था और इसलिए उनके निर्माण-में भी अवश्य ही अनेक शिल्पी[6] लगते होंगे। सामयिक और मथुरा[7] तथा अन्य स्थानोंकी[8] प्राचीन मूर्तिकलाओं और अजन्ताके[9] चित्रोंमें सौंदर्य-सज्जाके रूपमें अलकारोंका व्यवहार प्रचुरतासे किया गया है। जैसा कि अन्यत्र[10] कथित है सुवर्णके आभूषण और भिन्न-भिन्न नमूनोंके बहुमूल्य पत्थर इस बातके सिद्ध प्रमाण हैं कि अलकारोंके बहुतसे सुन्दर काम सफलतापूर्वक सम्पादित होते थे। जिन अलकारोंके निर्माणके लिए असामान्य निपुणता आवश्यक है उनमें तगडी (मेखला)[11] एक थी जिनके

---

१ वही, पृ० ४७। २ फाहियान्स रेकार्ड ऑफ दि बुद्धिष्टिक किङ्ग्-डम्स, जेम्स लेगेका अनुवाद, मध्यदेश के नीचे देखिये। ३ रघु०, ८ १५, १९.८, ५०; कुमा०, ५.३४।। ४ मानदण्डः कुमा०, १.१। ५ रघु० १.१०। ६ माल०, पृ० ४। ७ पूर्व द्रष्टव्य। ८ मिलाकर मथुरा-संग्रहालयमें प्रदर्शन। ९ भारतीय संग्रहालय, आर्चियो लौजिकल विभाग, कलकत्ता, सारनाथ संग्रहालय, लखनऊ संग्रहालय। १० पूर्व देखिये : ११ पूर्वमें विवरणयुक्त प्रमाणितः (मिलाकर पढ़िये) माल०, पृ० ५९।

नमूनोंके अनन्त प्रकारोका कालिदासने उल्लेख किया है और जिसके बीसों उत्कृष्ट नमूनोको हम मथुरा-संग्रहालयमें प्रदर्शित पाते है और पुनः कविने केयूर[1] (अंगद) की विविधताका उल्लेख किया है जिनमेंसे अनेकका प्रदर्शन मथुराके भास्कर्यमे है। कर्णफूलकी आकृति कभी-कभी पद्मकी[2] होती थी। तपे हुए सुवर्णको[3] पीटकर अनेक सुन्दर रत्नोका रूप दिया जाता था। विविध प्रकारकी अंगूठियाँ बनायी जाती थी जिनमेंसे एक पर सूर्यकी[4] आकृति थी। कभी-कभी पहननेवालेका[5] नाम भी उस पर उत्कीर्ण होता था। सुवर्णालंकारोमे[6] रत्नखचित भी होते थे। चामरकी लम्बी मूठ रत्न-जटित[7] होती थी। ऐसे दक्ष शिल्पी भी थे जो रत्नोंके[8] काम करते थे; हीरोको छेदते,[9] उनको छिलते और उनको तथा दूसरे रत्नोको[10] नया पानी[11] देते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नोको अधिक चमकीला-पन देनेके लिए उन पर नयी गहरी रेखाएँ खीची[12] जाती थीं (उल्लिखित) जो वास्तविक उत्कीर्णन और कर्त्तनका काम था। जब हीरेके समान नये बहुमूल्य पत्थर पहले पहल खनियोंसे खोद निकाले जाते तब उनको साफ़ कर काटा जाता था, इस क्रियाको उनको संस्कार[13] देने या संस्कृत बनानेकी क्रिया कहते थे। राज[14] भी थे। इनके अतिरिक्त लौहकार थे, जो लोहेका काम करते थे, उसको गर्म[15] करते और गलाते तथा इस्पातके हथौड़े[16] (अयोघन) की सहायतासे उसे इस्पात[17] बनाते थे। ऐसे

---

१ पूर्व देखिये। २ मेघ० उ०, ६। ३ तप्तचामीकर विक्र०, १.१५। ४ नागमुद्रासनाथमंगुलीयकम् माल०, पृ० ४, ६६। ५ मणिबन्धनोत्कीर्ण... अंगुलीयकम् शाकु०, पृ० १८२। ६ माल०, ५.१८। ७ मेघ० पू०, ५३; माल०, ५.१८। ८ रघु०, ६.१६, मणौ १.४, रत्नानुविद्ध ६.१४; अनाविद्धं रत्नं, २.१०। ९ संस्कारोल्लिखित शाकु०, ६.६; रघु०, ३.१८। १० वही। ११ रघु०, ३.१८। १२ शाकु०, ६.६। १३ रघु०, ३.१८; शाकु०, ६.६। १४ रघु०, १६.३८। १५ वही, १४.३३। १६ अयो-घन (मिलाकर, शब्दसाधन) वही। १७ वही।

सूक्ष्म वस्त्रका निर्माण करनेवाले ततुवाय थे जो साँस[1] लगनेसे ही उड़ते थे। छेनी-कर्तनीसे मूर्ति गढनेवाले मूर्तिकार[2] और खिलौनोकी मृण्मूर्तियो के निर्माता[3] कुम्भकार अपनी-अपनी कलाके आचार्य थे। अतिरिक्त ऐसे शिल्पी थे जो लोक-प्रचलित सगीत-कलाके वाद्य-यन्त्रोका निर्माण करते थे।

विभिन्न व्यवसायोंके क्षेत्रमे सघ-पद्धति प्रचलित प्रतीत होती है (शिल्पि-सघ), एक ही व्यवसायके करनेवाले शिल्पियोंके संगठनको 'सघ' कहते थे।

शिल्पि-संघ

हम 'रघुवश'[4] मे एक शिल्पिसघ तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में एक सघप्रधानका नामोल्लेख पढते है। नैगमो[5] तथा श्रेष्ठी[6] का पाठ भी हमे मिलता है। ये लाक्षणिक शब्द क्रमश: विविध वाणिज्य-सघोंके[7] प्रतिनिधियो तथा नगरके वणिक्-सघके[8] प्रधानके लिए आये है। सघका प्रधान 'श्रेष्ठिन्' कहलाता था। 'व्यवहारमयूख' में 'वृहस्पति'का प्रमाण दिया गया है जिसमे एक नैगमोकी[10] परिषद्का सकेत है। नैगमको 'विवादरत्नाकर' नगरका एक सघ[11] कहता है। रामायण भी इसका उल्लेख एक सगठित[12] सस्थाके रूपमे करता है। चार तक्षिला मुद्राओंसे यह स्पष्ट होगा कि ये नैगम-सघ मुद्राएँ[13] भी मुद्रित करते थे। हम यहाँ यह भी कह सकते है कि शिल्पि-सघ वडे उत्पादन-कर्त्ता और पण्य वस्तुओंके प्रसारक भी थे। कुमारगुप्त तथा वन्धुवर्माका मन्दसोर शिलालेख 'अपने व्यवसायसे उपार्जित धन-राशिका व्यय कर तन्तुवाय-सघ-द्वारा'[14] प्रखर-रश्मि सूर्यका एक सौम्य

१ वही, १६ ४३। २ वही, १६.३९, १७.३६; मेघ० पू०, ३३, ३४। ३ शाकु०, पृ० २४७। ४ शिल्पिसंघाः १६ ३८। ५ श्रेष्ठिनो, पृ० २१९। ६ विक्र०, ४.१३। ७ शाकु०, पृ० २१९। ८ जायसवाल; हिन्दु पोलिटी, भाग २, पृ० १०५। ९ शाकु०, पृ० ७१। १० मुकर्जी : लोकल गवर्नमेन्ट इन एन्सेण्ट इण्डिया, पृ० १२७। ११ वही, पृ० ११४, नोट। १२ २.१४, ५४; काशीनाथपाण्डुरग परव सस्करण, वम्वई, १८८८। १३ कनिंघम : क्वायन्स आफ एन्सेण्ट इंडिया, पृ० ६३। १४ फ्लीट : गुप्ता इन्स्क्रिपसन्स, पृ० ८६।

तथा अनुपम मन्दिरके निर्माणका उल्लेख करता है। ये ही सब थे जो दैनिक उपयोगमें आनेवाली वस्तुओंके, जिनमे रूई, रेशम तथा वस्त्र भी सम्मिलित थे, उत्पादनकर्त्ता थे जिनसे विदेशी बाज़ार पटा रहता था और जो रोमसे अतुल धन निकाल लाते थे जिसके विरुद्ध प्लीनी इतने रोषसे विरोध प्रदर्शन करता है।

उक्त गुप्त-शिलालेखमे एक सुन्दर विज्ञापन ध्वनित होता है। यह रेशम-तन्तुवायोंके उस संघकी ओरसे लेखबद्ध था जिसने उपर्युक्त मार्तण्ड मन्दिरका निर्माण करवाया था। वह मनोरंजक विज्ञापन इस प्रकार है : "(ठीक जिस प्रकार) एक नारी, रूप-यौवन-सम्पन्ना, सुवर्ण हार धारण करनेवाली, पानके बीडों तथा पुष्पोंसे युक्त होकर भी जब तक रंगीन रेशमी वस्त्रके जोड़े नही पहन लेती, तब तक गुप्त स्थानमें अपने प्रियतमसे मिलने नहीं जाती, उसी प्रकार यह सारा भू-भाग उनके द्वारा सुशोभित है मानो उसने स्पर्श-सुखद, विभिन्न रंगोंसे रंजित और नयन-सुखकर रेशमी परिधान धारण कर लिया हो।"[1]

विज्ञापन

कालिदासकी रचनाओंमें हमें कोषचालन (Banking) और जमाका संकेत प्राप्त होता है। वे 'निक्षेप'[2] का उल्लेख करते हैं। जो वस्तु थातीके रूपमे किसी व्यक्तिके पास फिर लौटा लेनेके उद्देशसे रखी जाती है, निक्षेप है कोषचालन-सम्बन्धी दूसरा शब्द न्यास[3] है और इसका अर्थ भी जमाका है। खर्चमें आये सारे व्ययोंको घटाकर और समस्त प्राप्य करोंको बाद देकर जो शेष रहता है, नीवी है।

कोष-चालन और निक्षेप

---

१ तारुण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहारताम्बूलपुष्पविधिना समलंकृतोऽपि।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदग्र्यां यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते ॥
U.२०; फलीटका अनुवाद, G १.१., ३, पृ० ८५। २ निक्षेप इवार्पितं द्वयं कुमा०, ५.१३। ३ शाकु०, ४.२१।

अतएव यह शेष पूर्ण रोकड़ है। हमें शिला-लेखोंसे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतमें सघ जमा लेने तथा मुद्रामें ऋण देने वाले कोष[1]का काम करते थे। कुमारगुप्त तथा वन्धुवर्माके मन्दसौर शिला-लेखके समसामयिक प्रमाणका इसकी पुष्टिमें उल्लेख किया जा सकता है।[2]

जन-संख्या

भारतकी जन-संख्या मुख्यतः आर्य गोत्रजोंकी थी, जो शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करते तथा अपने आश्रम-धर्मका पालन करते थे। भारतके पश्चिमोत्तरमें[3] पारसीक[4] तथा यूनानी[5] जैसे विदेशी रहते थे। उत्तर, यानी, आक्ससकी तराई और यारकन्दके निवासी थे, हूण[6] और कम्बोज[7]। इसके उपरान्त थे, कवाडी इलाक़ोंके पुलिन्द[8] और अर्द्ध- सभ्य किरात[9] और विन्ध्य तथा हिमालयके अरण्योंके निवासी उत्सवसकेत[10] इनके अतिरिक्त अन्य जंगली[11] भी थे। इन जंगलियोंका ही एक वर्ग था जिसकी आजीविका लूट-खसोट तथा पथिक-वञ्चनासे चलती थी। मालविकाग्निमित्र[12] इसी प्रकारकी एक लूटका उल्लेख करता है। हिन्दू जनता 'रघुवंश'के चतुर्थ तथा षष्ठ सर्गोंमे कथित प्रान्तो या राज्योंमें निवास करती थी जिनका वर्णन अन्यत्र हो चुका है। नव-निर्मित ग्रामोंमें अतिक्रमित जन-संख्या बसायी जाती थी जहाँ अत्यन्त घनी बस्तियोंसे लोग जा बसते थे।[13]

हमने ऊपर देखा है कि कविका युग सम्पन्नता, प्रचुरता तथा विलास का युग था। 'रघुवंश'[14] के अयोध्या तथा कुण्डिनपुर और मेघदूतके[15]

---

१ मुकर्जी : लोकल गवर्नमेन्ट इन एन्सेण्ट इण्डिया, पृ० ९४–९८। २ फ्लीट गुप्ता इन्स्क्रिपसन्स, पृ० ८६। ३ रघु०, ४.६०। ४ माल० पृ० १२०। ५ रघु०, ४.६०; माल०, पृ० १०२। ६ रघु०, ४.६८। ७ वही, ६९। ८ वही, १६.१९, ३२। ९ वही, ४७६; कुमा०, १.६, १५। १० रघु०, ४.७८। ११ कुमा०, १.१०। १२ ५.१०। १३ स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिताम् कुमा०, ६.३७। १४ १४.३०, १६. ११–३८, ७। १५ उत्तरमेघ।

वर्णनोंसे आर्थिक समृद्धिका परिचय मिल सकता है। अयोध्यामें भरी-पूरी दुकानोंवाले राजपथ थे और सरयू चलनेवाली नौकाओंसे भरी थी।

धन तथा विलास

हम निवासका दूसरे स्थानमें[1] वर्णन कर आये है। यहाँ उनका एक वार सिंहावलोकन अनुचित नही होगा। राज-प्रासाद वृहत् निवास-स्थान थे जहाँ आने-जानेवालोकी भीड़[2] लगी रहती थी। उनकी इमारतें वहुमूल्य थी और वे मांगलिक तथा मनोरम चित्रकलाकी कृतियोंसे संयुक्त थे और उनमें कई कक्ष होते थे। वनियोंके गृह कई मंजिलवाले होते थे जिनके साथ प्रमदवन और तडाग होते थे। इन गृहोंके और विशेपतया तड़ागोंके सुन्दर और कभी-कभी स्फटिकमय सोपान होते थे। प्रासादो तथा समृद्ध भवनोंके आंगन स्फटिक-जटित थे। विशाल भवनोमें तल्प, अलिन्द तथा अट्ट वने थे। विलास-प्रिय राजाओंके ग्रीष्मके तापसे वचनेके लिए सागरगृह नामक ग्रीष्म-निवास थे। गृहोंमें पानीके फौव्वारे और नल भी लगे थे और गर्मीके मौसममें धनी लोग वहुमूल्य पत्थरोंके वने उपवेशनोंवाले कमरोंमें प्रवेश कर शरीरका तपन मिटाते थे। वे ग्रीष्म ऋतुमे चन्दन-लेपका प्रचुरतासे प्रयोग करते थे जिससे उन्हें शीतलता प्राप्त होती थी।

निवास

गृहमें उत्कृष्ट कलाके नमूनोंवाले ढीले और कभी कभी राजहंसोकी आकृतियाँ कढे परिधान धारण किये लोग इतस्तत घूमा करते थे। वे सूक्ष्म वस्त्र जो साँस लगनेसे ही उडने लगते स्वभावतया ग्रीष्ममें पहने जाने-वाले थे और शिशिरमें भारी गर्म ऊनी कपडे उपयोगमें आते थे। लोग दिन और रातके उपयुक्त वस्त्र धारण करते थे। विविध तैल[3] का प्रयोग होता था। इंगुदीका तैल सिरमे[4] लगाने और दीप[5] जलानेके काम आता था।

---

१ पूर्व देखिये। २ जनाकीर्णं विक्र०, पृ० २६; अविरलजनसंपात वही। ३ तैल रघु०, १४.३८। ४ शाकु०, पृ० ७३। ५ रघु०, १४.८१; ४.१२।

राजाओं और राजपरिवारवालोंके निवासके बर्त्तन सुवर्ण[1] और बहुमूल्य पत्थरोंके बने होते। एक भारतीय गृहके उपयोगमें आनेवाले सामानोंकी पूरी सूची हम अन्यत्र[2] दे आये हैं।

गृह-पशुओंकी देखभाल अच्छी प्रकार होती थी। गौ सम्मान पाती थी। वह पुष्टिकर दुग्ध, दधि, मक्खन तथा घी देती थी। हमने भोज्य पदार्थोंका भी पूर्ण विवेचन किया है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास उस कालके भारतके लोगोंका एक अति समृद्ध तथा उन्नत चित्रण उपस्थित करते हैं जब वे रहे और उन्होंने अपनी रचनाएँ कीं और जब अरबों मुद्राओंकी संख्यामें धन शतशः खच्चरों तथा ऊँटों पर ले जाया जाता था।

---

१ हेमकुम्भ रघु०, २.३६। २ पूर्व द्रष्टव्य। ३ वही।

षष्ठ खण्ड

शिक्षा और साहित्य

अध्याय १६

शिक्षा

कालिदासने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूपमें अध्ययनके विषय, शिक्षक, विद्यार्थी जीवन, शिक्षाके केन्द्र तपोवनोंके जीवन, शास्त्र तथा अन्य साहित्य के सम्बन्धमें विस्तारसे लिखा है। यह वर्णन तथापि पारम्परिक है यद्यपि इसका बहुत कुछ अंश उनके अपने युगमें घटित हुआ हो सकता है। उन्होंने अध्ययनके विषयोंका 'विद्याः'[1] शब्दसे उल्लेख किया है। विद्याओंके चार प्रकार[2] थे। दूसरे स्थानमें[3] वे केवल तीन विद्याओंका संकेत करते हैं जिसपर मल्लिनाथ कौटिल्य और कामन्दक[4] के प्रमाण उपस्थित करते हैं, जैसा कि इससे भी अलग एक स्थान पर हम आगे देखेंगे, हमें चतुर्दश विद्याओं[5] का उल्लेख मिलता है। कौटिल्यने भी चार

अध्ययन के विषय

---

१ रघु०, १.८, २३, ८८, ३.३०, ५.२०, २१, १०. ७१, १८. ४०; शाकु०, पृ० १२५; ६.२५; विक्र०, पृ० ४०, १२८; माल०, पृ० ७। २ रघु०, ३.३०। ३ वही, १८.५०। ४ धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थानर्थौ वार्तायां नयानयौ दण्डनीत्याम्। अर्थ० त्रयीवार्तादण्डनीतिस्तिस्त्रो विद्या- मनोर्मता काम० यहाँ कामन्दकने मनुकी तीन प्रकारकी विद्याओंका उल्लेख किया है। ५ रघु०, ५.२१।

विद्याओंका नामोल्लेख किया है। कवि इन अध्ययनके विषयोंका विशेषतया उल्लेख नहीं करता, किन्तु 'कामन्दक-नीतिसार' इनकी संख्या लिखता है, जिनको हम भाष्यकार-द्वारा 'चतस्र: विद्या'[1] की व्याख्यामें लिखित पाते हैं। कामन्दकके[2] अनुसार अध्ययनके चार विषय इस प्रकार थे—१—'आन्वीक्षिकी', तर्कशास्त्र, दर्शन और अध्यात्म-विद्या, २—'त्रयी', तीन वेद, उनके अंग, उपांग और उपकरण, ३—'वार्ता', कृषि, वाणिज्य, गोचारण और पशुपालन; और ४—'दण्डनीति' राजनीति, राज्य तथा शासन सचालनकी विद्या। मनुके अनुयायी (मानव) केवल तीन विद्याओं, यानी, त्रयीवेद, वार्ता और दण्डनीतिको स्वीकार करते हैं और उनके विचारमें आन्वीक्षिकी केवल वेदोंकी[3] एक विशिष्ट शाखा-मात्र है। बृहस्पतिके अनुसार केवल दो ही विद्याएँ हैं, वार्ता और दण्डनीति।[4] उशनके माननेवाले कहते हैं, केवल एक ही विद्या है और वह है, दण्डनीति।[5] "किन्तु कौटिल्यका विचार है कि विद्याएँ चार और केवल चार ही हैं।"[6] अत विद्याओंकी संख्या निश्चित करनेमें कौटिल्यका कालिदासके साथ एकमत है। शुक्रनीति तीस विद्याओं तथा चौंसठ कलाओंकी[7] गणना करती है और कहती है कि विद्याएँ कथनके लिए हैं और कलाएँ ऐसी हैं जिनको एक गूँगा[8] भी कार्यरूप दे सकता है। यद्यपि कालिदास विद्याओंके उक्त प्रकारोंका विशेषत. उल्लेख नहीं करते और स्पष्टार्थके लिए उनका संकेत करते हैं तथापि वे बहुधा ऐसे बहुतसे पाठ्य विषयोंका उल्लेख कर जाते हैं जिनको यदि एक साथ रख दिया जाय तो एक विस्तृत पाठ्य-क्रम बन जाय। कालिदास-द्वारा उल्लिखित अध्ययनके विषयोंका एक सक्षिप्त विवरण देनेकी हम अगली पंक्तियोंमें चेष्टा करेंगे।

---

१ वही, ३.३०। २ आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती। एता विद्या चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतव.॥ टीकाकार-द्वारा उल्लेख, वही। ३ आर० शाम शास्त्री: अर्थशास्त्र, अनुवाद, पृ० ५। ४ वही, पृ० ६। ५ वही। ६ वही। ७ शुक्रनीतिका अनुवाद, अध्याय ४, विभाग ३। ८ वही, ४७–४८।

चार प्रकारकी विद्याओं या अध्ययनके विषयोंमें कालिदास एक नागरिकके लिए दो, यानी, 'वार्ता'[1] और 'दण्डनीति'[2] का उल्लेख करते हैं। आन्वीक्षिकीमें तर्कशास्त्र, दर्शन और अध्यात्मविद्या जैसे विषय थे। कौटिल्य आन्वीक्षिकीको सांख्य, योग और लोकायत (नास्तिकता)[3] की समष्टि कहता है। कविने हिन्दू-दर्शनके सब अंगोंका उल्लेख किया है, जैसा कि हम 'धर्म और दर्शन' के अध्यायमें देखेंगे। यहाँ उनकी ओर एक दृष्टि-विक्षेप ही पर्याप्त होगा। उदाहरणके लिए कालिदास मीमांसकों की कहावत, 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः; का अपने वाक्यांश 'वागर्थाविव संपृक्त'[4] में संकेत करते हैं। उसी प्रकार अपने 'कुमारसम्भव'[5] में शिवकी निर्विघ्न समाधिका दृश्य चित्रित करते समय उनके मस्तिष्कमें पतंजलिका 'योगसूत्र' विद्यमान रहता है। योगसमाधिके[6] कई संकेत हैं। तादृश क्रमसे कपिल, कणाद और गौतमके दर्शनोंकी ओर भी संकेत हैं जिनका हम यथास्थान विवेचन करेंगे। जैमिनिका[7] नाम भी लिया गया है जो षड्दर्शनमेंसे एककी शिक्षा देते हैं यद्यपि वे उसके प्रणेता नहीं हैं।

यह मनोरंजक है कि रघु जैमिनिसे योगकी शिक्षा ले रहा है क्योंकि जैमिनि योगके आचार्य कभी नहीं कहे गये हैं। यद्यपि 'ब्रह्म-सूत्रों'[8] में उनके प्रमाण दससे कम वार नहीं दिये गये हैं तथापि उनका सम्बन्ध कभी भी योगके साथ नहीं रहा है। श्रुति[9] या ऋक्, यजुष्, सामन् और अथर्वका अन्तर्दृष्ट साहित्य; ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद्, वेदांग[10] या छन्द, मंत्र, निरुक्त, ज्योतिष, व्याकरण और शिक्षा; उपवेद[11] जो धनुर्वेद, आयुर्वेद, आदि छः थे—ये सभी त्रयीमें संयुक्त थे। शास्त्र[12] या मनुस्मृतिके

---

१ रघु०, १६.२। २ वही, १८.४६। ३ शास्त्री : अर्थशास्त्र, अनुवाद, पृ० ६। ४ रघु०, १.१। ५ कुमा०, ३.४७–५०। ६ वही, १.५६, ३.४०; रघु०, ८.१७, २२, २४,(योगसमाधि)। ७ रघु०, १८.३३। ८ पादटिप्पणीमें उल्लेख नं० ३ पृ० ७१५। ९ वही, २.२, ३.२१, ५.२, २२, २३, २४। १० वही, १५.३५। ११ विक्र०, पृ० १२८। १२ वही, १.१६।

समान धर्मशास्त्र 'स्मृति'[1] थे; 'रामायण'[2] और 'महाभारत'[3] महाकाव्य इतिहास[4] थे और 'पुराण'[5] में विविध पुराणोंमें लिखित देवताओं और राजाओंकी वंशावली थी। जैसा ऊपर कहा गया है कृषि, पशु-पालन और वाणिज्य 'वार्ता' थे। दण्डनीति[6] या शासन-कला राजाके लिए एक आवश्यक विषय थी, जिसमें धर्म-शास्त्रका वह भाग जिसमें राजाके कर्त्तव्योंका विधान है और राजनीति पर लिखे कौटिल्यके अर्थशास्त्र, कामन्दकका नीतिशास्त्र और उशनके[7] सूत्र—शायद 'शुक्रनीति' का आरम्भिक संस्करण सम्मिलित थे। अतएव राजाके लिए पाठ-क्रममें थे, उसके राज्यके शासन सम्बन्धी विषय और अपराधियोंके लिए दण्ड-विधान जिसके लिए उन विषयोंके अतिरिक्त, जो सामान्य विद्यार्थियोंके लिए आपेक्षित थे शास्त्रों[8] में (धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र) उसकी 'अकुण्ठित बुद्धि' होनेकी आशा की जाती थी।

मनुके अनुकरणमें अन्य स्थल पर हमें चौदह प्रकारकी विद्याओंका[9] (विद्यापरिसंख्यया......चतस्रो दश) उल्लेख प्राप्त होता है। इस विषयमें भाष्यकार-द्वारा[10] प्रमाण माना गया मनु चौदह विद्याओंकी नामावली इस प्रकार प्रकाशित करता है—वेदके छः अंग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र।[11] याज्ञवल्क्यमें भी यही है

---

१ रघु०, २.२। २ रघु०, १५.३३, ६३, ६४, १.४। ३ पूर्वसूरिभिः वही, १.४; मेघ० पू० ४८। ४ इतिहासनिबन्धेषु शाकु०, पू० ६१ पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः रघु०, ११.७०, १८.२३। ५ रघु०, ११.१०, १८ २३। ६ वही, १८.४६। ७ अध्यापितस्योशनसापि नीति कुमा०, ३.६। ९ रघु०, १.१९। ८ वही, ५.२१। ९ वही।

१० अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येता चतुर्दश॥ मनुस्मृति।

११ पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश। याज्ञवल्क्यस्मृति।

कालिदास विशेष प्रकारसे जिनका उल्लेख करते हैं वे हैं;—श्रुति,[1] ऋक्,[2] यजुष्,[3] सामन्,[4] अथर्व,[5] वेदाङ्ग[6] (साङ्गवेदम्) और श्रुतियों-की भावानुसारिणी स्मृतियाँ।[7] धनुर्वेद[8] और उसके 'आलीढ',[9] 'वाजिनीराजना'[10] आदि अनेकों शब्दके उल्लेखसे दूसरे उपवेदोंका अस्तित्व भी प्रमाणित हो सकता है, जिनमें आयुर्वेदका संकेत हुआ है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। शास्त्र[11] शब्दसे स्मृतियोंका भी संकेत है जिससे अर्थ-शास्त्रके समान राजनीति[12] तथा दण्डनीतिविषयक निबन्धोंका बोध होता था। 'धातोर्गमनार्थमर्थवित्',[13] धातोः स्थान इवादेशम्'[14] 'प्रत्यय-प्रकृतियोगसन्निभ'[15] और प्रवृत्तिरासीत् शब्दानामचरितार्था चतुष्टयी जैसे कथनोंमें व्याकरणके अध्ययनका उल्लेख है जो आदि मूल विभक्तियों, उपसर्गों और शुद्ध तथा अप्रत्यय नाम तथा क्रिया सम्बन्धी आधारोंका संकेत करते हैं। फिर वहाँ आते हैं, अनेक व्यक्तिवाचक संज्ञाओंके पद-विश्लेषण और वे भी उसी दिशाकी ओर संकेत करते हैं। इसके उपरान्त हमें 'वर्णों' और उनके 'स्थानों'[16] का पाठ मिलता है जो वेदाङ्ग, शिक्षाके भाग हैं। आगे 'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये'[17] और 'क्षतात्किल त्रायत इति'[18] जैसे वाक्यांशोंमें शब्दभावनके उदाहरण मिल सकते हैं जो शब्दको उसके अर्थसे अभिन्नता और शब्द-साधनीय विश्लेषणके द्वारा शब्दके अर्थको चमत्कृत करनेका संकेत करते हैं। वाल्मीकि-द्वारा आदि-काव्य कहकर 'रामायण'[19] का नामोल्लेख है जब कि 'पूर्व-सूरिभिः'[20]

---

१ रघु०, २.३,३.२१, ५.२, २२, २३, २४। २ वेदविदां वही, ५.२३ चारों वेदोंका संकेत। ३ वही। ४ कुमा०, ८.४१। ५ रघु०, १.५६। ६ वही, १५.३३। ७ श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् वही, २.२। ८ विक्र०, पृ० १२८। ९ सैन्यके प्रकरणमें पूर्व देखिये। १० वही। ११ रघु०, १.१९। १२ शास्त्रदृष्टमाह माल०, पृ० ११। १३ रघु०, ३.२१। १४ वही, १३.५८। १५ वही, ११.५६। १६ वर्णस्थानसमीरिता वही, १०.३६। १७ वही, १.१। १८ वही, २.५३। १९ कविप्रथम-पद्धतिम् वही, १५.३३। २० वही, १.४।

वाक्यांशने रामायण महाभारत और अन्य छन्दोबद्ध रचनाओंका संकेत है। पुराणोंकी कथाओंके कहनेवाले पुराविदों[1]को स्वभावत: ही पुराणों (पूर्ववृत्त) का ज्ञान था। कालिदासने अपने समयके दूसरे पद्यमय काव्यों और नाटकोंका संकेत उनके रचयिताओं, यानी, भास, सौमिल्ल और कविपुत्रके[2] नामों-द्वारा किया है जिनकी काव्य-श्रेष्ठता स्वीकार करनेको वे प्रस्तुत[3] नहीं हैं। राजा तथा उनके मंत्रीके अध्ययन-विषयोंके अंग राजनीति तथा शासनके ग्रन्थ भी थे और वाद-विवाद[4] उपस्थित होने पर उनके प्रमाण भी रखे जाते थे। संगीत और नृत्य एवं नाटक अन्य मुख्य विषय थे जिनमें अधिकतासे स्त्रियाँ विशेषकर वेश्याएँ[5] प्रवीणता प्राप्त करती थीं, जो इनका अभ्यास पेशाके[6] रूपमें करती थीं। 'चतुष्पद'[7] नामक एक विशिष्ट पाद-स्फालन पर आधारित एक विशेष नृत्यके आविष्कार का श्रेय शर्मिष्ठाको दिया गया है जो संगीतके साथ होनेपर 'छलिक'के[8] नामसे प्रसिद्ध है। शर्मिष्ठा-द्वारा विरचित एक ग्रन्थविशेषमें इनका विवरण है।[9] समुद्रगुप्तके एलाहाबाद स्तम्भ-लेखसे हमें विदित होता है कि वह काव्य और संगीतका[10] आचार्य था। उसकी वीणाकृति मुद्राओं-से भी उसकी संगीत-निपुणता प्रमाणित होती है। अजका अपनी पत्नीको[11] ललित कलाओंकी शिक्षा देना (ललिते कलाविधौ) कहा जाता है। अग्नि-मित्र ललित-कलाओंके एक शिक्षालयका संचालन करता है, जहाँ संगीत, नृत्य, नाट्य तथा चित्र-कलाकी शिक्षा दी जाती है। संगीत तथा नृत्यकी[12] अशुद्धियाँ दिखाकर अग्निवर्ण वेश्याओं और उनके शिक्षकोंको लज्जित कर देता है। विद्याकी अन्य मुख्य शाखाओंके समान ही ललित-कलाओंमें

---

१ वही, ११.१०, १८.२३। २ पूर्व उद्धृत पाठ, माल०, पृ० २। ३ वही, १.२। ४ वही, १.८, तत्प्रकारवचनं पृ० ११; शास्त्र वही। ५ रघु०, ३.१९, १९.३५। ६ वही, १९.३५। ७ माल०, पृ० २१। ८ वही। ९ शर्मिष्ठायाः कृति वही। १० पूर्व प्रमाणमें दिया पाठ। ११ रघु०, ८.६७। १२ मिलाकर, माल०, अंक १ और २। १३ पूर्वका प्रमाण-लेख

भी राजासे पारंगत होनेकी आशा की जाती थी। चित्रकला उसी प्रकार एक वैद्यालयिक अध्ययनकी वस्तु थी। हमें स्थापत्य, भास्कर्य, मृण्मूर्ति-कला, मिट्टी तथा धातुओंके पात्र और वर्त्तन तथा सुवर्णकार और लौहकारो की दूसरी उपयोगी कलाओंकी चर्चा पढनेको मिलती है। एक शिल्पी-संघका उल्लेख[1] है, अतएव हम सरलतासे निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उक्त उपयोगी कलाओंके विद्यार्थी, अपने-अपने पेशोंकी शिक्षा पानेके लिए, विविध सघोंमें जा एकत्रित होते होंगे। सैनिकों, विशेषकर क्षत्रियों और राजाओंको अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा दी जाती जिसके लिए विद्यार्थीमें शारीरिक[2] बलका होना आवश्यक था और ये शस्त्रास्त्र[3] मंत्र-शक्तिसे कभी-कभी रहस्यमय दैवी प्रभावसे युक्त हो जाते थे। दूसरी विद्याओंके अतिरिक्त राजे दण्डनीतिके अंगके रूपमें कूटनीति तथा राजनीतिके विविध अन्य छल-छद्मोंका[4] भी अध्ययन करते। ज्योतिष और दैवज्ञ-विद्याका उल्लेख हुआ है और उसी प्रकार ओषधिविज्ञानका भी। किन्तु ज्योतिष तथा ओषधिविज्ञानका विवेचन हम अलग करेंगे। इनसे भिन्न कलाएँ थीं ऐन्द्रजालिकोंकी। 'अपराजिता'[5] एक प्रकारकी जादू थी जो 'शिखा-बन्धिनी विद्या'[6] के नामसे प्रसिद्ध थी और जिसके द्वारा सब बाधाएँ दूर हो जाती थीं।[7] यह शिखा बाँधते हुए पढ़ी जाती थी। दूसरी जादू थी 'तिरस्करिणी विद्या'[8] जिसके मंत्रका उच्चारण करते ही मन्त्रोच्चारक अन्तर्ध्यान हो जाता था। एक प्रकारकी मंत्र-शक्तिसे अभिमंत्रित वृत्तके[9] घेरेके भीतर सर्पकी गति अवरुद्ध हो जाती थी।

---

१ शिल्पिसंघाः रघु०, १६.३८। २ स्ववीर्यगुप्ता वही, २.४। ३ वही, ५.५७, ५९। ४ 'थीट्स आन पोलिटी'में प्रमाण दिये गये परातिसंधान—छः उपायों, चार प्रकारकी राजनीति आदि। पूर्वमें देखिये। ५ अपराजिता नाम विक्र०, पृ० ४०। ६ वही। ७ पण्डितः विक्रमोर्वशीय, २.....। ८ विक्र०, पृ० ४१, ४७, ४६, ७२। ९ रघु०, २.३२; कुमा०, २.२१।

यहाँ हमें ज्ञानविकासक शिक्षा और उपयोगी कलाओंकी पढाईके भेदको अवश्य प्रकट कर देना चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा (जिसका हम आगे उल्लेख करेंगे) के अतिरिक्त, जो सम्भवत· सामान्यतः सबको प्राप्य थी, सैद्धान्तिक शिक्षा स्वभावतः लोगोंको उनके पेशोंके अनुसार दी जाती थी जिनका इस प्रकार वर्गीकरण हो सकता है, अर्थात् राजे, कुलीन पुरुष, राज्याधिकारी, अध्यापक, पुरोहित, सैनिक, संगीतज्ञ तथा अभिनेता, धातु-कर्मी, अन्य शिल्पी, कारीगर आदि। 'वास्तु' और उसके समान अन्य प्रचलित कलाएँ थी जो स्वभावतया विद्याका एक अंग थी जिसमें वर्ग-विशेष विशेषज्ञता प्राप्त करता था। उपयोगी कलाओंके अभ्यास करनेवाले शिष्योंके लिए मनु,[1] याज्ञवल्क्य,[2] बृहस्पति,[3] कात्यायन,[4] नारद[5] और गौतम[6] विशेष नियमोंका विधान करते हैं।

उपर्युक्त वे पाठ्य विषय हैं जिनका उल्लेख कालिदास अपने ग्रन्थोंमें करते हैं, जिनका सांगोपांग अध्ययन विद्यार्थीमें पूर्ण अनुशासनकी[7] भावना जागृत कर देता था (प्रबोधविनयाविव)। प्रथम अक्षर-ज्ञान[8] (वर्ण-परिचयम्) के साथ भाषा[9] (वाङ्मय) का अध्ययन आरम्भ होता था। वर्णमालाके अक्षरोंको भूमि[10] पर लिखकर पहले सीखते थे। पूर्वी उत्तर-प्रदेश और विहारकी कुछ पाठशालाओंमें आज भी यह प्रथा प्रचलित है।

शिक्षाका आरम्भ 'उपनयन'[11] नामक एक विशिष्ट संस्कार-द्वारा होता था जिसके साथ विद्यार्थी शिक्षकके द्वारा अपने नये कार्य-क्षेत्रमें दीक्षित

---

१ मनुस्मृति, ४.१४६, ८.२९९–३००। २ याज्ञवल्क्यस्मृति, २.१८७। ३ १६.६। ४ कोलब्रूक्स का डाइजेस्ट आफ हिन्दु ला, भाग २, पृ० ७। ५ नारदस्मृति, ५.१६–२१। ६ २.४३–४४। ७ रघु०, १०.७१। ८ वही, ३.२८। ९ शाकु०, पृ० १५०; लिपेर्यथावद्ग्रहणेन रघु०, ३.२८, १८.४६। १० न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां वही, १८.४६। ११ रघु०, ३.२९।

किया जाता था। एक योग्य शिक्षक[1]का श्रेय प्रखर-बुद्धि शिष्यका चुनाव था, किन्तु यदि दीक्षित विद्यार्थी अपने अध्ययनके पाठोंको सीखनेमें मन्दबुद्धि और शिथिल निकलता[2] तो शिक्षक दोषी नहीं गिना जाता था। तथापि जो शिक्षक अपने अल्प-बुद्धि शिष्योंको शिक्षित और सूक्ष्म कला या शास्त्रके[3] भाव ग्रहण कराने योग्य बना देता उसकी प्रशंसा होती थी।

विद्यार्थी की दीक्षा

शिक्षक, गुरु अपने शिष्यों तथा जनता और राजाके द्वारा बड़े सम्मान[4] से देखा जाता था। उसकी प्रतिष्ठा एक देवताके समान होती थी और ऐसा माना जाता था कि कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसकी वह इच्छा करे और वह उसे प्राप्त न हो। उसका उच्चासन और योग्यताकी ऐसी प्रधानता थी कि राजा अपनी कठिनाइयोंमें[5] उसके परामर्शोंके लिए बारम्बार उसके निकट जाता था। शिक्षकका सामान्य नाम था 'गुरु'[6] या 'आचार्य'। वह सामान्यतया अपनी व्यवस्थाका प्रधान था। राज्यविद्यालय या तपोवन किसी भी संस्थामें कई अध्यापक रहते थे। विषयोंकी विभिन्नताके कारण शिक्षकोंकी[7] संख्याकी अनेकता थी। ह्वेनसंगके उल्लेखानुसार नालन्दा[8] विश्वविद्यालयमें एक सौ शिक्षक थे जो एक सौ विषयोंकी शिक्षा एक

शिक्षक

१ माल०, पृ० १६, पूर्वका पाठ-उल्लेख। २ वही, पूर्वका टेक्स्ट उल्लेख, वही, १.६; रघु०, ३.२६। ३ माल०, २.६। ४ अथार्वनिवे: रघु०, १.५६, तयोर्जग्रहतुः पादान् ५७। गुरोर्मन्त्रान्दर्शितशिष्यभक्तिः रघु० २.४०, मिलाकर वही, १. ६१–६४, ७१–७२। ५ रघु०, १.६१। ६ वही, २.४०, ३-२६, ५.१, १७, २०, २४, ३१, ३८; आचार्य माल०, पृ० ४, १४, १६, ६० इत्यादि। ७ गुरु रघु०, २.४०, ३.२६, ५.१, १७, २०, २४, १८.५०; आचार्य माल०, पृ० ४, १४, १६ आदि, उपाध्याय विक्र०, पृ० ६०, ६१। ८ ह्वेनचांगका वाटर्सका अनुवाद—नालन्दा, १६५, हर्ष पृ० १३०।

साथ देते थे। धार्मिक शिक्षक एक साधारण शब्द 'गुरु'[1] से सम्बोधित होता था। शिक्षकोंके दूसरे प्रकारको 'उपाध्याय'[2] कहते थे जो अनुमानतः गुरु या 'कुलपति' के अधीन कार्य-सम्पादन करता था। वे जो संगीत, नाट्य, नृत्य और चित्र-कला जैसे व्यावसायिक तथा शास्त्रीय कलाओंका अध्यापन करते थे 'मालविकाग्निमित्र'में 'आचार्य'[3] के नामसे सम्बोधित हैं। गणदास और हरदत्त इसी प्रकारके आचार्य हैं जिनकी नाट्य-कलाकी प्रतिद्वन्द्विता (विज्ञानसंघर्ष) का वर्णन 'मालविकाग्निमित्र'में[4] है। विद्याके भिन्न-भिन्न अंगोंमें विशेषज्ञता प्राप्त करनेके कारण बहुतसे विद्यांग 'कुलविद्या'[5] बन गये। शिक्षा-संस्थाओंके, जो मुख्यतः मुनियोंके आश्रम थे, प्रधानको 'कुलपति'[6] कहते थे। इस उपाधिसे प्रकट होता था कि वहाँकी सारी व्यवस्थामें एक घरेलू वातावरण विराजमान है जिसके परिणामस्वरूप वह 'कुल' परिवार कहलाता था, जिसका पति, गुरु या मुनि था। कुलपति उपाधिसे ही उसका 'कुल' के प्रति ममत्वका बोध होता है।

वेतन

तपोभूमिके शिक्षक कोई वेतन ग्रहण करते नहीं प्रतीत होते, किन्तु राज्य-द्वारा संचालित शिक्षा-संस्थाओंके अध्यापकोंको राज्य-कोषसे नियमित वेतन[7] मिलता था। बहुसंख्यक वातायनोंसे युक्त इमारतवाली भव्य प्राकृतिक दृश्योंसे समन्वित इसी प्रकारकी एक संस्थाका वर्णन 'मालविकाग्निमित्र'[8] में हुआ है। तथापि यह वह स्थान प्रतीत होता है जहाँ केवल राजप्रासादके निवासी ही शिक्षा पा सकते थे।

वहाँ विद्यार्थी संगीत और चित्रकलाका अध्ययन करते थे। हम पढ़ते हैं कि विद्यार्थियोंको पाठ[9] दिये जाते थे। कलाके विविध विषयोंके

---

१ मिलाकर नोट १०.१। २ विक्र०, पृ० ६०, ६१। ३ पृ० ४,१४, १६। ४ पृ० १७। ५ वही, पृ० ७, रघु०, १७.३। ६ रघु०, १.९५; शाकु०, पृ० २१, ३२, ८४। ७ वेतनदानेन माल०, पृ० १७। ८ वही, पृ० ९. पूर्वके पाठका उल्लेख। ९ संगीतव्यापार विक्र०, पृ० २७।

प्रामाणिक पुरुष, सुतीर्थोंके[1] अतिरिक्त अशास्त्रीय रीति या कलाका ज्ञान प्राप्त किये ऐसे विशेषज्ञ व्यक्ति भी थे जो कभी-कभी अध्यापकोंके[2] विवादके मध्यस्थके आसनपर मनोनीत होते थे। प्रतिद्वन्दितामें सफलीभूत अध्यापकको राजा पुरस्कृत[3] करता था (पुरस्कारमर्हति)।

संगीत और चित्रकला के शिक्षालय

'मालविकाग्निमित्र'में कथित इस विद्यालयके दो विभाग थे, जिनमेंसे एकमें संगीत (संगीतशाला)[4] और दूसरेमें चित्रकला (चित्रशाला)[5] की शिक्षा दी जाती थी। बादके कालमें जब शिक्षा-संस्थाओंके रूपमें आश्रम-शैलीके कार्यका अन्त हो गया तो मध्यकालीन ढंगकी पाठशालाओंका प्रादुर्भाव हुआ। हम एक शिला-लेखमें एक दाताके उदार दानके विषयमें पढ़ते हैं जिसने तिरुवोरैयुरके देवालयमें 'व्याकरण-दान व्याख्यान-मण्डप' नामक व्याकरणशालाके लिए कुछ भू-दान किया था जो उन अध्यापको तथा शिष्योंके निर्वाहके लिए था जो वहाँ रहकर व्याकरणका अध्ययन करते थे।[6] एक-दूसरे लेखमें किसी जगन्नाथमण्डप में महाराज वीरराजेन्द्रदेव (१०६२ ई०[7]) द्वारा ही दी गयी राजकीय सहायतासे संचालित वेदों, शास्त्रों, व्याकरण, रूपावतार आदिके अध्ययन के लिए स्थापित एक विद्यालयका संकेत मिलता है। कालिदासकालमें गुरुकुल-पद्धति मरी नहीं थी, अपितु उन्नत दशामें प्रतीत होती है जैसा कि इस सम्बन्धके संकेतोंके बाहुल्यसे सिद्ध होता है और मालविकाग्निमित्र के राजकीय विद्यालयका उल्लेख उपर्युक्त शिलालेखोंमें उल्लिखित संस्थाओं के प्रकारके आरम्भका संकेत करता है।

---

१ सुतीर्थादभिनयविद्या सुशिक्षिता—माल०, पृ० १४। २ विशेषज्ञः प्राश्निकः वही, पृ० १५, मध्यस्था पृ० १७, प्रधानपुरुषसमक्ष वही, पृ० १५। ३ वही, २४। ४ वही, पृ० ४,६। ५ वही, पृ० ५। ६ मुकर्जी : लोकल गवर्नमेण्ट इन ऐन्सेन्ट इण्डिया, पृ० २७४। ७ वही, पृ० २७५।

विद्यार्थी जब अपने गुरुसे दीक्षा ग्रहण करता था तो उसी कालसे उसके विद्यार्थी-जीवनका श्रीगणेश होता था। उसकी संज्ञा शिष्य[1] या वर्णी[2] होती थी। उसकी वर्णी अभिधा इस

विद्यार्थी-जीवन

कारण होती थी कि विद्यार्थीको अपने अध्ययन-की समाप्ति तक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना पड़ता था। आश्रममें[3] सम्मानार्थ गुरुके चरणोंका स्पर्श किया जाता था। शिष्य अपने गुरुके आश्रममें निवास करता था और अन्य आश्रम-वासियोंके सदृश ही मृगचर्म (रुरुमृग) धारण करता था। यद्यपि रघुने अध्ययनके लिए आश्रममें प्रवेश नहीं किया था तथापि उन्होंने मृगचर्म[4] धारण किया था, जिसका धारण करना एक आश्रमवासीके लिए नितान्त आवश्यक था। तपोवनमें शिष्य दिलीपके[5] समान कुशकी चटाई पर सोता था। वहाँ शिक्षक तथा शिष्यके मध्य एक बड़ा ही हार्दिक[6] तथा स्नेहपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता था। सम्भवतया स्वयं कालिदासने भी किसी गुरुकुलमें शिक्षा ग्रहण की थी जो 'रघुवंश'के प्रथम सर्गमें उनके द्वारा दिये विस्तृत वर्णनसे आभासित होता है। उनके वशिष्ठ, कण्व, मरीचि और च्यवन अपने-अपने गुरुकुलके आदर्श कुलपति हैं और उसी प्रकार वरतन्तु (रघु० ५) एक आदर्श शिष्य है। पवित्रता तथा वात्सल्यपूर्ण वहाँके वातावरणमें ही विद्यार्थी अपने अध्ययनक्रमका[7] अनुसरण करता था जहाँ अत्यन्त भयशील हिरण-शावक भी उसमें[8] हिलमिलकर उछल-कूद करता तथा उसके साथ खेलता था। वहाँ वैदिक साहित्य[9] और शिक्षाके आचार्य

१ रघु०, ५.१, १८, १५.७४; शाकु०, पृ० ८४। २ रघु०, ५.१६। ३ वही, १.५७ दिलीप, वशिष्ठका प्राचीन छात्र, ऐसा करता है। ४ वही, ३.३१, इसका भाष्यकार मनुका उल्लेख करता है। ५ कुशशयने निशां निनाय रघु०, १.९५। ६ गुरवो गुरुप्रियम् वही, ३.२९। ७ तदंकशय्या...मृगीणां वही, ५.७। ८ विद्यामभ्यसनेन वही, १.८८। ९ वेदविदां वही, ५.२३।

उसमे आर्य-संस्कृतिके रहस्य सन्निविष्ट कर देते थे। क्षत्रियकुमारको कभी-कभी अपने पिता[1]से ही शस्त्रास्त्रकी शिक्षा मिलती थी; किन्तु आश्रममे ऐसी शिक्षा दी जानेका उल्लेख भी है। आश्रममें[2] रहकर विद्यार्थी वेदोंका[3] अध्ययन (श्रुतपारदृश्वा) समाप्त करता था। जब वह चतुर्दश विद्याओंकी[4] शिक्षाका अध्ययन-काल पूरा कर लेता तब उसे घर लौटने (अनुमतो गृहाय) की आज्ञा मिलती। यहाँ यह लिखा जा सकता है कि ग्रन्थोंके अनुसार गुरुकी[5] आज्ञा लेना अनिवार्य है और कवि केवल इस पुरानी परम्पराका पालन करता है। पश्चात्, स्नातक 'गोदान'[6] संस्कार सम्पादन करनेके बाद विवाह[7] करता था। यह 'गोदान संस्कार' विद्यार्थी-जीवनकी समाप्ति पर तथा वैवाहिक[8] सम्बन्धके पूर्व किया जाता था। इसके पश्चात् शीघ्र ही स्नातकका विवाह सम्पन्न होता था। मनुके विधानके अनुसार ब्राह्मणका गोदान संस्कार सोलहवें वर्षमें, क्षत्रिय का बाईसवें वर्षमें और वैश्यका चौबीसवें[9] वर्षमें होना चाहिये। गोदान-संस्कार, जो ठुड्ढीके श्मश्रुका क्षौरकर्म था, दाढी निकलने पर किया जाता था।

अध्ययनकाल

अतएव यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक द्विजके लिए अध्ययन-काल सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक होता था।

---

१ अशिक्षतास्त्रं पितुरेव वही, ३.३१। २ विक्र० ५। च्यवनके आश्रमसे शिक्षा प्राप्तकर आयुष आता है। ३ उपात्तविद्यं रघु०, ५.२३, श्रुतपारदृश्वा वही, २४। ४ वही, २१, ज्ञानमशेषं वही, ४। ५ वही, ३.३३। ६ वही। ७ वही। ८ वही।

९ केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥ रघु० पर भाष्यकार-द्वारा मनुका उल्लेख ३.३३।

स्वभावत विद्यार्थी[1] मन्द तथा मेधावी[2] दोनो थे। उदाहरणार्थ, मालविका मेधाविनी और 'परमनिपुणा'[3] है। मेधावी शिष्यके चुनाव और दीक्षासे गुरुकी प्रवीणता[4] प्रतिविम्बित होती थी और यह माना जाता था कि अध्यापककी सफलता उस हदतक है जहाँ तक उसका शिष्य उसकी शिक्षाको ग्रहण करनेमें मन्द या मेधावी हो। अन्यथा अध्यापककी शिक्षण-कलाकी उसी प्रकार व्यर्थ नष्ट होने की सम्भावना है जिस प्रकार किसी वस्तुकी कुधातुके वर्त्तन[5] मे रखनेसे होती है। फलत. कुछ विचारकोंकी दृष्टिमें वे आचार्य[6] दोषी नही समझे जाते थे जिनके द्वारा संयोगसे कोई मन्द-मति शिष्य दीक्षित हो गया होता था। फिर भी, यह तर्क किया जाता था कि अध्यापककी अध्यापन-शैलीमे ऐसी प्रवीणता होनी चाहिये कि वह मन्द शिष्यको भी मेधावी बना दे जिससे वह उसकी शिक्षाके रहस्यको अपना सके। उसकी कलाकी उत्कृष्टता उसी प्रकार उसके शिष्यकी मन्दतासे निर्लेप रहनी चाहिये जिस प्रकार सुवर्ण[7] अग्निमें तपाने पर भी अपनी चमक नही खोता। वास्तवमे अपने अध्यापककी शिक्षा ग्रहण तथा उसको अपनेमे विलीन करनेकी शिष्यकी योग्यताकी वृद्धि और विकास उसके पूर्वजन्मके[8] संस्कारोंके अनुसार माना जाता था। पूर्वके संस्कार ही शिष्यके मन्द या मेधावी होनेके कारण थे। अतएव यह स्पष्ट है कि विद्यार्थियोंके प्रकारोंके सम्बन्धके सिद्धान्त आजकी तरह ही एक मत नही रखते थे। जब विद्यार्थी अपना अध्ययन पूरा करता और वह विवाहित हो जाता तो उसे 'स्नातक' कहा जाता। कालिदास

विद्यार्थी

---

१ मन्दमेधाः माल० पृ० १९। २ उदारधी. रघु०, ३ ३०; अन्तेका टेक्स्ट उल्लेख; माल०, पृ० ८। ३ माल०, पृ० ८। ४ वही, पृ० ९। ५ वही, १.६, मिलाकर भी रघु०, ३ २९। ६ माल०, पृ० १९। ७ वही, पृ० ९। ८ प्राक्तनजन्मविद्या कुमा०, १ ३०।

ब्राह्मण स्नातकोंका उल्लेख विवाह[1] तथा राज्याभिषेकके[2] अवसरों पर दान ग्रहण करते, करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यार्थियोंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। उसके विद्यार्थी-जीवनके[3] अवसान पर वह अपने शिक्षकको गुरु-दक्षिणा[4] प्रदान करता था किन्तु शिक्षकोंके एक वर्गकी दृष्टिमें शिष्यसे कुछ लेना इतना अधम काम था कि यदि कहीं शिष्य[5] गुरुदक्षिणाका नाम लेता तो गुरुका क्रोध भड़क पड़ता था। इस प्रकार शिष्यसे अपने अध्यापनके लिए शुल्कके रूपमें कुछ लेनेकी ओर गुरुकी सदा अनिच्छा प्रकट होती है। यहाँ तक कहा गया है कि जो जीविकाके लिए अध्यापन-कार्य करता है वह निश्चय ही विद्याका[6] व्यापारी है और इसलिए घोर निन्दनीय है।

शुल्क

कालिदासने बहुधा[7] लेखनका उल्लेख किया है। हमें पत्रों,[8] 'लिफ़ाफ़े-[9]' में रखे पत्रों, प्रेमपत्रों[10] (कभी-कभी कमलपत्रों[11] पर लिखे गये) और दूसरे लिखित पत्रोंके[12] पाठ मिलते हैं। पत्र लेखनकी निश्चित विधि

---

१ रघु०, ७.२८। २ वही, १७.१७। ३ उपात्तविद्यं वही, ५.३८, ज्ञानमशेषप्राप्तं वही, ४।४ वही ५.२२। ५ निर्बन्धसंजातरुषार्यकार्श्य—वही, २१। ६ यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥ माल०, १.१७। ७ रघु०, ३.२७, १८.४६; शाकु०, पृ० १५०, ६७, १००, १२४, ३.२३, ७.५; विक्र०, पृ० ४४, ४५, ४६, ४७, ५३, ५४। ८ विक्र०, पृ० ५६; माल०, पृ० १०–११, १०२। ९ पूर्वका पाठ उल्लेख—माल०, पृ० १०१। १० अनंगलेख मन्मथलेख—शाकु०, पृ० ६७, ३.२३। ११ वही, पृ० १००। १२ वही, पृ० २१६; विक्र०, २.१३।

थी और पत्रोंका आरम्भ अधिकतर आशीर्वचन[1] एवं स्नेहपूर्ण वाक्यांशोंके साथ होता था जिसको 'स्वस्तिवाचनिका'[2] कहते थे। हम पद्यमय पत्रों[3] (काव्यबन्ध) के विषयमें भी पढ़ते हैं।

लेखन

एक स्थान पर चरित्रलेखन[4]की भी चर्चा है। शरों[5] और अंगुलीयकों[6] पर उत्कीर्ण अक्षरोंके भी संकेत हैं। लिखने[7]की सामग्रियों (लेखनसाधनम्) का भी उल्लेख है। यह निश्चित रूपसे नहीं लिखा है कि ये सामग्रियाँ कौन-सी थीं। किन्तु इनमेंसे दो 'भूर्जत्वच'[8] और 'भूर्जपत्र'[9] लिखनेके उपादानोंमें बार-बार[10] उल्लिखित हैं। अक्षरारम्भ करनेवाले विद्यार्थी भूपृष्ठ[11] पर लिखते थे, कदाचित् खरियाके टुकडेसे या खरियाके समान किसी अन्य धातुसे, जो आज भी भारतके प्राचीन ढंगकी ग्राम-पाठशालाओंमें अधिकतर प्रचलित है।

---

१ विक्र०, पृ० ४६; स्वस्ति माल०, पृ० १०२। २ वही। ३ काव्यबन्ध—विक्र०, पृ० ५४। ४ शाकु०, ६.५। ५ रघु०, ३.५५, ७.३८, १२.१०३, कुमा०, ३.२७, ५.१२७; विक्र०, ५.७। ६ शाकु०, पृ० ४६, १२०, ६.१२। ७ लेखनसाधनानि वही, पृ० १००। ८ कुमा०, १.७। ९ विक्र०, पृ० ४४, ५३। १० कुमा०, १.७; विक्र०, पृ० ४४ (तीन), ५३। ११ रघु०, १.८४६।

अध्याय १७

साहित्य

अब हम कालिदासकी रचनाओंकी ही और उनके ग्रन्थोंमें उदाहृत विज्ञानों तथा दूसरे साहित्यकी विवेचना नीचे करेंगे । कवि-द्वारा उपस्थित किया गया कोई भी साहित्याध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता जो उस अमूल्य साहित्य-निधिकी उपेक्षा करता है जिसको उसकी अपनी लेखनीने सगृहीत किया है। अतः आरम्भमें ही उसकी अपनी कृतिका अध्ययन अनिवार्य हो जाता है और इसके परिणाम-स्वरूप हम उसकी अपनी रचनाओंकी मीमांसाको पुरस्सर कर आगे बढ़ेंगे ।

आन्तरिक

ये ग्रन्थ कविके वेदों, उपनिषदों, भगवद्गीता, पुराणों, सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा और न्याय, आयुर्वेद तथा ज्योतिष और राजनीति तथा अन्य शास्त्रोंसे प्रचुर परिचयके पर्याप्त प्रमाण हैं। स्पष्टता और सुविधाकी दृष्टिसे हम इस अध्यायके अपने अध्ययनको दो खण्डोंमें विभक्त करेंगे, यानी, आन्तरिक तथा बाह्य साहित्य । आन्तरिक साहित्य निस्सन्देह ही कालिदासकी रचनाएँ हैं और बाह्य वह है जो उनमें प्रतिबिम्बित होता है ।

कालिदासके ग्रन्थ

बीस रचनाओंमेंसे जिनके वे रचयिता कहे जाते हैं केवल सात ही ऐसी हैं जो सत्यतापूर्वक उनकी विलक्षण बुद्धिकी उपज प्रमाणित की जा सकती हैं। वे हैं; अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र, रघुवंश, मेघदूत, कुमारसम्भव और ऋतुसंहार। इनमें प्रथम तीन हैं, नाटक और शेष चार, महाकाव्य तथा छोटे गीतिकाव्य। हम उनपर एक-एक करके विचार करेंगे ।

समस्त संस्कृत नाट्य-साहित्यमें अभिज्ञानशाकुन्तल निस्सन्देह सर्वोपरि है। नाट्यकला-विशारदोंने इसको विश्व-साहित्यकी सर्वश्रेष्ठ रचनाओंमें एक कहा है। काव्यके अलौकिक माधुर्य-वैचित्र्यकी अभिव्यक्ति, प्रकृतिके सौंदर्य-मय वर्णन, पदलालित्यकी संगीतमय मधुरिमा, भाषाको निर्मल निर्झर-सी सरलता, विचारोंके शालीनतापूर्ण उद्बोधन तथा विविध दृश्योंको मनोहारित्व प्रदान करनेवाले कारुण्य भावमें उसकी रचनाओंमें कविकी काव्य-प्रतिभा विलक्षणतापूर्वक प्रदर्शित हुई है। यह रचना एक नाटक है और इसमें सात अंक हैं। इसकी कथावस्तु महाभारतसे ली गई है किन्तु यह अनेक स्थलों पर मूल महाभारतीय आख्यानसे भिन्न है। कलापूर्ण पूरी निपुणतासे नायिकाकी दुःखकातरताकी कारुणिक तथा सुकोमल अनुभूतियोंका चित्रण किया गया है। अपनी सखियोंकी उसकी ममता, छोटे जीवों, वृक्ष-लताओं, उसको विदा करनेका कण्व मुनिका परिताप—इनमें इतनी सजीवता है कि ये नाटकीय नैपुण्य तथा काव्य-सौष्ठवमें अमर कविको स्थायी कीर्ति तथा स्मृतिपूर्ण महिमासे अलंकृत किये विना नहीं रह सकते।

शाकुन्तल

विक्रमोर्वशीय एक त्रोटक है और पांच अंकोंमें समाप्त होता है, इसकी घटनाएँ कुछ पार्थिव तथा कुछ दिव्य हैं। कथानक ऋग्वेदसे लिया गया है। इस नाटकका अन्त बडी विलक्षणतासे होता है और घटनाओंका क्रम यहाँ बड़ा स्वाभाविक है। डॉ० विल्सनने ठीक ही ध्यान दिलाया है, "इस कथानकका प्रेरक लक्ष्य भाग्यका विधान है और राजा, अप्सरा तथा स्वयं देवराजको विधिके अलंघनीय और अनिवार्य विधानके वशमें अंकित किया गया है।"

विक्रमोर्वशीय

मालविकाग्निमित्र एक अभिनय है जिसमें राजसभाके जीवनका पूरा परिचय मिलता है। यद्यपि इस नाटकमें शाकुन्तलकी मर्यादा और कोमल-भावाभिव्यक्ति या विक्रमोर्वशीयके स्वाभाविक घटना-क्रमका अभाव है, तथापि इसका महत्त्व कम नहीं। ऐतिहासिक पुष्यमित्रके पुत्र तथा उसके साम्राज्यके दक्षिण

मालविकाग्निमित्र

भागके राजप्रतिनिधि अग्निमित्रके जीवनसे कथानकके लिये जानेके कारण कथा-वस्तुकी अकृत्रिमता स्पष्ट होती है। घटनाओंका वर्णन सजीव है और सभाके षड्यंत्र दर्शकोंको कुछ देरके लिए स्तम्भित कर देनेवाले हैं। तो भी नाटक प्रथम श्रेणीका नही है और संगीत तथा नाट्यके सिद्धान्तका श्रमपूर्ण व्यक्तीकरण, विद्वत्तापूर्ण और विवरणयुक्त क्यो न हो, इसने दर्शकोंके धैर्यको अवश्य थका दिया होगा। इसकी प्रवृत्ति गद्यकी ओर है।

रघुवंश

रघुवंश एक महाकाव्य है। महान् और आदि कवि वाल्मीकिने महाकाव्योंकी जिस सरणीका श्रीगणेश किया था उसको कालिदासकी प्रतिभाने अपने रघुवंशमें पूर्णताको पहुँचा दिया है। पूर्ण काव्यकुशलतासे कविने रामायणकी कथाको, यत्र-तत्र उसमें कुछ अपना योग-दान करते हुए, उन्नीस सर्गोंमें सकुचित कर लिया है। वर्णनात्मक पद्यके साथ दार्शनिक प्रतिबिम्ब मिलकर मनोहारिता उत्पन्न करता है कहीं-कहीं जिसकी सुन्दरताको समस्त संस्कृत साहित्यमें कोई दूसरी रचना मात नहीं कर सकती। काव्यकारोंने महाकाव्यके जो लक्षण दिये हैं, उनके अनुसार इस महती रचनाको महाकाव्यकी सुन्दरतम रचना कह सकते है।

कुमारसम्भव

कुमारसम्भवको महाकाव्यका रूप देना ही अभीष्ट प्रतीत होता है, किन्तु कविने इसको अपूर्ण ही छोड दिया है। इसकी ऐश्वर्यपूर्ण विविधता, कल्पना-वैचित्र्य और इसके भावोंके उत्कट उद्दीपनपर पाठक चकित रह जाता है। हिमालयके नगरमें शिवकी बारातकी प्रगतिका वर्णन करते समय कालिदास स्पष्ट ही सुन्दरता और विस्तृत विवरण लानेकी दृष्टिसे रघुवंशके अनेकों श्लोकोंकी पुनरुक्ति करते हैं। दोनो ग्रन्थोंमें वर्णनका विषय है, एक ही—बारातका जुलूस। कुमारसंभवमें नखशिख प्रकृति-सौंदर्य है।

मेघदूतको पाश्चात्य आलोचकोंकी प्रशंसा प्राप्त है। इसका अनुवाद प्रायः उतनी बार हो चुका है जितनी बार होरेसके गीतोंका। यह एक सौ

से कुछ ऊपर छन्दोंका गीति-काव्य है। गीतिका कथानक बिलकुल मौलिक है और इसकी अभिव्यक्ति पारलौकिक है। यह संस्कृत-काव्यमें एक

मेघदूत

रोमांचक-युगके आरम्भकी घोषणा करनेको खड़ा हो सकता है। कला प्रतिभापूर्ण तथा व्यक्तित्व-प्रदर्शक है। सारी रचनामें मन्दाक्रान्ता-जैसे बड़े छन्दका प्रयोग इसके रचयिताका काव्य-लेखनी चलानेमें सिद्धहस्त होना प्रमाणित करता है।

भारतीय षट्-ऋतुओंका यह एक वर्णक काव्य है। प्राकृतिक सौन्दर्यके वर्णन करनेवाले इसमें प्रतिभापूर्ण दृश्य हैं जिनमें मानवी अनुभूतियाँ प्रकृति

ऋतुसंहार

की भाषासे बिलकुल सानुरूप्य रखती हैं। शृङ्गारिक दृश्य इतस्ततः बिखरे पड़े हैं और प्रकृतिके ओजपूर्ण तथा विवरणात्मक अपने शब्द-चित्रके साथ कविने सफलतापूर्वक मानवी भावोंकी अभिव्यंजना ओत-प्रोत की है। कालिदासकी रचनाओंमें सब जगह प्राकृतिक वर्णनका प्राधान्य रहा है, किन्तु मानो उन सभीसे असन्तुष्ट हो वे प्रकृति-विषयक एक बिलकुल भिन्न कथावस्तुका सृजन करते हैं और उन्होंने उसको स्फूर्तिसम्पन्न करनेके लिए उसमें मनुष्यकी भावुकताओंकी धार ला बहायी है। कविकी किसी अन्य रचनामें प्रकृतिके साथ ऐसा सहानुभाव नहीं पाया जाता। ऋतुके वर्णनमें उसकी अन्तर्दृष्टि और कला कहीं भी ऐसी आकर्षक नहीं हुई है और न उसके चित्रोंके रंग ही ऐसे विविध हैं जैसे ऋतुसंहारमें।

अन्य कवियों पर कालिदासकी प्रधानताका मुख्य कारण है, उसकी कान्ति-मयी निखरी शैली। ऐसा कोई दूसरा संस्कृत कवि नहीं है जो ऐसी सरल

शैली

और शालीनतापूर्ण भाषापर अधिकार रखता हो। कविकी सारी रचनाएँ एक ऐसी शैलीमें लिखी गई हैं जिसको 'वैदर्भी रीति' कहते हैं, जिसमें जैसा कि दण्डीने[1]

---

१ श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥—काव्यादर्श, १.४१।

उल्लेख किया है, काव्य-रचनाके दस मुख्य गुण होते हैं। काव्यकी पूर्णता और प्राकृतिक संगीत-माधुर्यमें कालिदासकी कविताएँ प्रमाण मानी गयी हैं। उनकी उपमाएँ सटीक होनेके लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी शैली सरल, शालीन और स्वाभाविक है और वे साधारणत. एक वर्ण्य विन्दुको स्पर्श करते हैं और पाठककी अनुभूतियोंको लेकर आगे बढ़ जाते हैं, जिसमें वह अपनी पूरी कल्पनाका उपयोग कर सके। उनके पास कल्पनाका अक्षय कोष है। वे एक प्रवीण कलाकार हैं। मानव हृदयके उनके उत्कृष्ट ज्ञान, उसकी प्रकृष्ट परिष्कृत अनुभूतियोंकी अपनी सुकुमार अभिव्यंजना और उसके परस्पर-विरोधी आवेगों तथा भावोंके साथ साहचर्यमें उनको कोई पार नहीं कर सका, वे अद्वितीय हैं।

संस्कृत रूपककी परम्पराका अनुसरण करती हुई उनकी भाषा संस्कृत तथा प्राकृत दोनोंका सम्मिश्रण हो गई है। प्राकृतके प्रयोगमें वे गद्यके लिए 'शौरसेनी' और पद्यके लिए 'महाराष्ट्री'का व्यवहार करते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलमें रक्षक और धीवरकी भाषा 'मागधी' है और श्याला 'शौरसेनी' का प्रयोग करता है। प्राकृत कवि-काल तक एक निश्चित रूप धारण कर चुकी प्रतीत होती है। इसी कारण उसमें नियम-विरुद्धताके दोष प्रविष्ट हैं, किन्तु वे समर्थनके योग्य हैं।

कालिदासका युग एक-रूप अभिरुचियोंके प्रति रुचि प्रदर्शित करने लगा था जिसका उन्होंने विरोध किया और उनमें बहुत अंश तक परिवर्त्तन ला परिवर्धनको स्थान दिया। प्रत्येक नई वस्तु उपेक्षा और घृणाका पात्र थी और जो कुछ प्राचीन था उसका स्वागत उत्साह और प्रतिष्ठाके साथ किया जाता था। किन्तु वे आगे बढ़े और अपने नये विचारों तथा नव नाटकोंके लिए अपनी प्रेरणाओंसे एक प्रशंसक वर्गका निर्माण किया। उन्होंने घोषणा की कि प्राचीन वस्तु केवल अपनी प्राचीनताके कारण ही अच्छी नहीं है और न नयेको इसलिए घृणित और अपास्य समझना चाहिए क्योंकि वह नवीन[1] है।

---

१ माल०, १.२।

कविकी रचनाओंमें जिन छन्दोका प्रयोग है वे हैं—आर्या, श्लोक, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, प्रहर्पिणी, शालिनी, सुचिरा, स्रग्धरा, रथोद्धता, मञ्जुभापिणी, अपरवक्त्रा, अपचन्दसिका, वैतालीय, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा, पृथिवी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, वशस्थ, शिखरिणी, हरिणी, इन्द्रवज्रा, मत्तमयूर, स्वागता, तोटक और महामालिका।

कविकी रचनाओसे प्रकट उसकी तुलनात्मक विशेपताओ और उसके काव्यमय तथा नाटकीय नैपुण्यकी दृष्टिसे विचार करने पर उसको काल-क्रमानुसार इस प्रकार रखा जा सकता है—ऋतुसहार, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, रघुवश, कुमारसम्भव, मेघदूत और अभिज्ञानशाकुन्तल। किन्तु क्योकि कुमारसम्भव एक अपूर्ण कृति है, यह अन्तका प्रयास हो सकता है जो कविके निवनके कारण अपूर्ण रह गया हो। मल्लिनाथ आठवे सर्गके माथ रुक जाते हैं।

कविकी रचनाओंमें वीसियो सकेत आये है जिनसे तत्कालीन साहित्य पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। यह साहित्य, जिसको हमने वाह्य कहा है

वाह्य

इस अध्यायके आरम्भमें सयोगवश कालिदासके ज्ञानके उद्गम तथा उनकी रचनाओकी ओर सकेत करता है। विद्या, कला तथा शास्त्रकी वहुत-सी शाखाओका उल्लेख हुआ है जिनकी हम आगे समीक्षा करेगे।

कविके ग्रन्थोमे हमे ज्योतिपकी एक स्पष्ट झाँकी मिलती है। सौर-मण्डल तथा दूसरे ग्रहोका उल्लेख किया गया है। कवि-द्वारा सकेतित

ज्योतिष

ज्योतिप-शास्त्रीय नामोकी एक सूची दी गयी है। नवग्रह,[1] राशियाँ,[2] नक्षत्र[3] और दूसरे तारोका[4] उल्लेख है, उनमेंसे कुछका विशेपतया। हिन्दू शैलीके

---

१ रघु०, ३.१३, १२.२८, २९। २ राशि माल०, पृ० ६१।
३ रघु०, ६.२२। ४ वही, ४.१९, ६.२२, ध्रुव कुमा०, ७.३५।

अनुसार परिगणित ग्रहोंमें निम्नलिखितोंके नामोल्लेख हैं—सूर्य,[१] चन्द्र,[२] भूमि[३] या पृथ्वी, मंगल,[४] बुध,[५] बृहस्पति,[६] राहु[७] और केतु[८]। परम्पराके अनुसार अन्तिम दोनो हानिकारक प्रभाव[९] वाले माने गये हैं। ग्रहोंमे आपसकी दूरी स्थितिके अनुसार अच्छा या बुरा[१०] प्रभाव उत्पन्न करनेवाली होती है। नक्षत्रोंमें परिगणित हैं—चित्रा,[११] विशाखा,[१२] पुष्य,[१३] फाल्गुनि[१४] और रोहिणी[१५]। चातकोंके[१६] एक प्रकरणमे स्वातिका भी नाम आया है। धूमकेतु[१७] लोक-दुर्भाग्यका[१८] सूचक समझा जाता था। विक्रमोर्वशीयके एक प्रसंगमे 'सूर्योपस्थानम्'[१९] का उल्लेख है जो भागवतके[२०] अनुसार प्रतिमास सूर्यकी परिचर्या करनेवाले छ गणोंसे

---

१ रघु०, २.१५, ३.१३, २२, १२.२५ आदि। २ वही, १.४६, ८३, २.३९, ३.१७, ५.६१, ७.१९, १२–३६, १६.२७, ३.२२, ६.२२, ८.४२, १४.४०, १७.३०, १८.२७; कुमा०, ७.१, ६; शाकु०, पृ० ९६, ७.२२; विक्र०, पृ० १९, ७२; माल०, ५.७ आदि। ३ रघु०, १४.५० आदि, आदि। ४ माल०, पृ० ६१, अंगारकः (मंगलग्रहः काटयवेम)। जैसा कि आकाशमें दीख पड़ता है, यह ग्रह अपने धूमिल रक्त वर्णके कारण 'अंगारक' कहलाता है जो तप्त कोयलेके समान होता है। ५ रघु०, १३.७६। ६ वही। ७ वही, २.३२, १२.२८। ८ कुमा०, ६.७। ९ रघु०, २.३९, १२.२८, २९; कुमा० ६.७। १० माल०, पृ० ६१। ११ रघु०, १.४६; विक्र०, पृ० १२। १२ शाकु०, पृ० ९६; विक्र० पृ० १९। १३ रघु०, १८.३२। १४ कुमा०, ७.६। १५ शाकु०, ७.२२; विक्र०, पृ० ६४, ७२; कुमा०, ८.८२। १६ शाकु०, ७.७। १७ कुमा०, ३.३२। १८ वही। १९ विक्र०, पृ० ८६। २० स्कन्ध १२ अध्याय ११ छन्द ४७-४८। "सूर्य-भ्रमणमें प्रति मास ऋषि तीनों वेदोंमें आदित्यदेवके लिए कहे प्रशंसक स्तोत्रोंके द्वारा उस आदित्य भगवान्‌की स्तुति करते हैं; उसके रथके आगे गन्धर्व गाते तथा अप्सराएँ नृत्य करती हैं; रथके बन्धनके रस्सेका काम नाग करते हैं; यक्ष साईसोंके रूपमें रथके साथ रहते हैं; बलशाली राक्षस रथको पीछेसे

ढकेलते हैं और साठ सहस्र पुण्यात्मा ब्रह्मर्षि, जो 'वालखिल्य' कहलाते हैं उन सूर्य भगवान्‌के आगे-आगे गुणानुवाद करते चलते हैं।" प्रत्येक मास ये छः गण बारी-बारीसे सूर्य देवकी सेवामें उपस्थित होते हैं। उन ऋषियों गन्धर्वों, अप्सराओं, यक्षों आदिके नाम जो सूर्यकी सेवामें अपनी परिचर्या भेंट करते हैं उस महीनेके साथ चलते हैं जिसमें वे सूर्योपासना करते हैं (स्तुति ३३, ४३)। हमें उससे ज्ञात होता है कि अप्सरा कृतस्थली चैत्रके महीनेमें सूर्यकी परिचर्या करती है, पुंजिकस्थली वैशाखमें, मेनका ज्येष्ठमें, रम्भा आषाढ़में, अनुम्लोचा भाद्रपदमें, तिलोत्तमा आश्विनमें, रम्भा कार्त्तिकमें, उर्वशी मार्गशीर्षमें, पूर्वचित्ति पौषमें, घृताची माघमें और सेनाजित्(?) फाल्गुनमें। निस्सन्देह श्रावण मासका अपवाद घटनावश हुआ है। भागवतका एक टीकाकार (भावार्थदीपिका) कूर्मपुराणके कतिपय पदोंको प्रमाणमें उद्धृत करता है जिनमें उन सभी सात गणोंका नामोल्लेख है जो द्वादश मासोंके आभ्यन्तर सूर्यके परिचारक होते हैं। यह देखा जायगा कि 'विक्रमोर्वशीय'की हमारी चित्रलेखा भागवत या कूर्मपुराणमें गिनायी अप्सराओंमें तबतक नहीं आती जबतक उसका एकीकरण वहाँकी परिगणित अप्सराओंमेंसे किसी एकके साथ न हो। चित्रलेखा जो कुछ कहती है उसके अनुसार उसको ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी अंगरक्षा करनी पड़ती है यानी वसन्तके पश्चात् आनेवाली ऋतुमें अर्थात् ज्येष्ठ या आषाढ़में। भागवतके अनुसार इन महीनोंकी अप्सरा सूर्यपरिचारिकाएँ हैं, मेनका और रम्भा और कूर्मपुराणके अनुसार मेनका और सहजन्या। इन दोनोंमें से किसीके साथ चित्रलेखाका एकीकरण नहीं हो सकता क्योंकि इनके नाम नाटकमें अलग-अलग आये हैं। अतएव सम्भव है या तो चित्रलेखा और ग्रीष्मकालमें उसका सूर्यकी परिचर्या करना हमारे कविका सृजन है या, यदि ऐसा नहीं तो, उसने पुराणोंकी सेवा-पद्धतिका दास्य-भावसे अनुसरण करना अस्वीकार कर दिया है और पुराणोंके केवल इस विचारका ऋणी होते हुए कि अप्सराओंको भ्रमण-क्रममें सूर्यकी परिचर्या करनी पड़ती है उसने चित्रलेखाको वह महीना दिया है जो उसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त था।

सम्वन्वित है। उक्त प्रसगकी अप्सराएँ उन्हींमेंसे है। मालविकाग्निमित्रमें मंगल[1] ग्रहके प्रत्यावर्त्तनका उल्लेख करता हुआ एक संदर्भ है। एक उपमामें[2] अपने स्थानसे हिले-डुले विना एक देवदारुके वृक्षकी ओर निर्निमेप दृष्टिसे देखने-वाले सिंहकी समता राहुसे दी गई है जो चन्द्रमाके कक्षकी गाँठका नाम है। अत- कविका भाव है कि राहु स्थिर है और चन्द्रमाको ग्रसित करनेके लिए उसका पीछा नही करता। 'प्रदिष्टकाला उपस्थिता' की संज्ञासे भी यही ध्वनित होता है। सिंहका ग्रास वननेके लिए गायका समय दैवने पूर्वमें ही निश्चित कर दिया था और वह उसी प्रकार नियत समयपर उपस्थित हुई जिस प्रकार चन्द्रमा अपने निश्चित समयके अनुसार राहुके सामने आ उपस्थित होता है। एक सीमित क्षेत्र (अग) है जिसके भीतर जाने पर ही पशु सिंहका भोजन वन सकता है जिस प्रकार चन्द्रमाके कक्ष पर एक घेरा है जिसके मध्य प्रवेश करके ही चन्द्रमा ग्रहणको सम्भव कर सकता है। ग्रहणका ज्योतिप शास्त्रीय सिद्धान्त है जिसको कालिदास वैज्ञानिक रूपसे जानते है। वास्त-विक ग्रास घटित होनेके पूर्व प्रच्छायामे प्रवेश करने पर गाय ताम्रवर्णकी

---

१. माल०। वाक्य इस प्रकार चलता है : "जिसमें वह मंगलग्रहकी तरह कहीं लौट न पड़े।" ऐसा माना जाता था कि जव यह पृथ्वीकी ओर लौटता था तो अधिक अनुकूल होता था उस स्थितिसे कि जव यह उसकी ओरसे मुँह फेर लेता था। कुछ विशिष्ट स्थितियोंमें ग्रहोंको पृथ्वीकी ओर देखते कहा जाता है और दूसरी ऐसी स्थितियाँ भी है जिनमें वे पृथ्वीसे दूर होते कहे जाते हैं। जव वे पृथ्वीको ओर पीठ कर देते हैं प्रतिकूल कहे जाते हैं और जव वे उसकी ओर दृष्टि रखते है, अनुकूल होते हैं। इसका अपवाद केवल मंगल है, क्योंकि जव यह पृथ्वीकी ओर लौटता था तो अनुकूल प्रभाव डालनेवाला माना जाता था।

२ रघु०, २.३६।

हो गयी। शाकुन्तलमें[1] 'परिवह पथ' का उल्लेख होता है। आकाश सात मार्गोंमें (पथ या कक्ष) विभक्त है जिनमेंसे प्रत्येकमें विशिष्ट पवन संचरित होता है। इनमें छठा मृगशिराका पथ है और इसके पवनका नाम है, 'परिवह'। यह पवन सप्तर्षि-मण्डलके सात तारोंके साथ चलता माना जाता है। यही स्वर्गंगा, कविके छायापथको[2] उर्मिल बनाता बहाता है। शाकुन्तल, ७ ७ में 'भूवायु' आवह यानी सिद्धान्तशिरोमणिके मेघों तथा विद्युत्के प्रदेशका अप्रत्यक्ष उल्लेख है। चन्द्रमाके साथ चित्रा-का सम्बन्ध भी संकेतित हुआ है।[3] चैत्रके महीनेमें जब रात्रि कुहरेसे[4] मुक्त होती है चित्रा चन्द्रमाके साथ उगती है और चन्द्रमा आकाशमें अग्रसर होता है जिससे आकाश मेघ-निर्मुक्त[5] हो जाता है। चन्द्रमाके साथ प्रका-शित होनेवाली विशाखाकी मनोहारिताका भी उल्लेख[6] है। यह माना जाता था कि रोहिणीके[7] संसर्गसे चन्द्रमाकी सौन्दर्य-वृद्धि होती है। चन्द्रमा का फाल्गुनीके साथ मिलनेके बादका समय विवाह-कालमें[8] वधूके शरीरमें अंगराग तथा शृंगारके अन्य लेपोंको लगानेके लिए शुभ समझा जाता था। चन्द्र-कलाओंका भी वर्णन है।[9] एक श्लोकमें[10] चन्द्रमाका बुध और बृहस्पति दो ग्रहोंके साथ सम्पर्क लिखा है। चन्द्रको ओषधियों तथा उद्भिद्-जीवनका[11] अधिपति भी कहा गया है। पूर्णिमाके दिन आकर्षण और केन्द्रीय खिंचावके कारण सागर तथा महासागरके ज्वारका जिक्र[12]

---

१ शाकु०, ७.६। भाष्यकार राघवभट्ट-द्वारा दिये गये 'सिद्धान्त-शिरोमणि'के प्रमाणके अनुसार पृथ्वीसे दूरीके क्रमसे पवनके सात गति-क्रम हैं—आवह, प्रवह, संवह, उद्वह, सुवह, परिवह और परावह।
२ रघु०, १३.२। ३ वही, १ ४६। ४ वही। ५ हिमनिर्मुक्त वही।
६ विक्र०, पृ० १६; शाकु०, पृ० ६६। ७ कुमा०, ८.८२; शाकु०, ७.२२, विक्र०, पृ० ६४.७२। ८ कुमा०; ७.६। ६ रघु०, १७.३०। १० वही, १२.७६। ११ नाथमिवौषधीनां वही, २.७३। १२ वही, ३.१७, ५.६१, ७.१६, १२.३६, १६.२७।

है। फिर चन्द्र-दर्शन अर्थात् शुक्लपक्षकी द्वितीयाको शुभदायक कहा गया है और चन्द्रमाको[1] देखनेके लिए एकत्रित लोगोंकी भीड़का भी उल्लेख है। एक श्लोकमें जैसा कि आगे हम देखेंगे कृष्ण-पक्षके अन्तमें सूर्यसे मिले प्रकाशको प्रतिबिम्बित करते चन्द्रमाको लिखा गया है। वर-वधूको उनके सम्बन्ध तथा प्रेम-बंधनकी अचलताके लिए ध्रुवका[2] दर्शन कराया जाता था। मेघदूतमें[3] धूप, प्रकाश, जल और वायुके पूर्ण मेलसे बादलोंका बनना बताया गया है। एक और उल्लेख है जिसमें बालचन्द्र सूर्यके[4] प्रकाशको ग्रहण करता और बढ़ता है। अतः चन्द्रका सूर्य-रश्मि ग्रहण और प्रतिबिम्बित करनेका सिद्धान्त ज्ञात था। इस भावको[5] स्पष्ट करनेके लिए टीकाकारने वराहसंहिताका प्रमाण उपस्थित किया है। ज्योतिष-की एक लौकिक शाखा निकल पड़ी थी और एक मिथ्या शास्त्रका स्थान दैवज्ञ विद्याने ले लिया था। अशुभ मुहूर्तोंके विरुद्ध शुभ मुहूर्तोंकी घोषणा की गई। वर्ष[6] (संवत्सर) छः ऋतुओं, यानी निदाघ या ग्रीष्म[7] वर्षा,[8] शरत्,[9] हेमन्त,[10] शिशिर[11] और वसन्तमें[12] विभाजित हुआ। आगे चलकर वर्षके और बारह महीनोंमें भाग हुए जिनका नामकरण विशिष्ट नक्षत्रके नामपर हुआ। इन महीनोंमेंसे कुछके नाम रखे गये हैं। वे हैं, आषाढ़,[13] श्रावण[14] और कार्त्तिक।[15] चैत्र, वैशाख और पौषके महीनों की उत्पत्ति उनसे सम्बन्धित चित्रा,[16] विशाखा[17] और पुष्य[18] नक्षत्रोंसे हो

---

१ नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः वही, १८.२७। २ कुमा०, ७.८५। ३ मेघ० पू० ५। ४ हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः रघु०, ३.२२। ५ वराहसंहिताका उल्लेख टीकाकार करता है—

"सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम्।
क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः॥"

६ माल०, पृ० १००। ७ ऋतु०, १.१। ८ वही, २.१। ९ वही, ३.१। १० वही, ४.१। ११ वही, ५.१। १२ वही, ६.१। १३ मेघ० पू० २। १४ वही, ४; रघु०, १३.६। १५ रघु०, १९.३९। १६ वही, १.४६। १७ शाकु०, पृ० ९६; विक्र०, पृ० १९। १८ रघु०, १८.३२।

सकती है। महीनोंको फिर दिवसोंमें[1] खडित किया गया था, जिनके यद्यपि विशेष नामकरण नही है तो भी वे क्रमश अधिकसे अधिक छोटे कालकी इकाईमे विभक्त हुए और इन क्षणोको फलित ज्योतिषके सिद्धान्तो- के आधार पर शुभ तथा अशुभ ग्रहोंमे[2] दूर या निकट रहनेके अनुसार शुभ या अशुभ नामाकित किया गया। इसलिए सूर्यके साथ पाँच ग्रहोंका उच्चतर स्थान बहुत शुभ समझा जाने लगा और इस कालमे उत्पन्न पुत्रका महान् और भाग्यशाली[3] होना अवश्यम्भावी माना जाता था। आक्रमण- कारी सैन्य[4] शुक्र-दिशाकी प्रतीक्षा करता था। यात्राके[5] लिए शुभाशुभ दिन हुए (यात्रानुकूलेऽहनि)। प्रात काल प्राय चार बजेका समय ब्राह्ममुहूर्त,[6] शुभ-काल था जब मुनि तथा उनके शिष्य शय्या त्याग करते थे। मगलमय शुक्ल पक्षके जामित्र[7] लग्नकी किसी तिथिमें विवाह-सस्कार करनेकी चेष्टा होती थी। जामित्र यूनानियोका 'डासे- ट्रोन' है। जब नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी चन्द्रमाके साथ होता तो उसे मैत्रमुहूर्त कहते। यह वधूके अगोमें अगराग लेपन कर उसको पाणिग्रहणके लिए प्रस्तुत करनेका विशेष मगलदायक मुहूर्त[8] था। फलित ज्योतिष खूब लोक-प्रचलित था और शुभाशुभ ग्रहोंके प्रभावके फलस्वरूप एक ऐसे पेशेने[9] जन्म ग्रहण कर लिया था जो लोगोंके भाग्यकी बातें कहा करता था।

ओषधि

ओषधिने बडी उन्नति की थी जो कविके बहुसख्यक उल्लेखोंसे सिद्ध किया जा सकता है। कविकी उक्तियोकी व्याख्यामे मल्लिनाथ, हेमाद्रि, चरित्रवर्द्धन और दूसरे व्याख्याताओने वाग्भट्ट, काशीराजकी अजीर्णामृत-मजरी, मदात्यय- चिकित्सा और दूसरे वैद्यक-ग्रन्थोके प्रमाण बार-बार दिये है।

---

१ वाररात्रिषु—वही, १६.१८। २ सोपसर्ग वो नक्षत्रम् माल०, पृ० ७१। ३ सूचितभाग्यसम्पदम्—रघु०, ३.१३। ४ कुमा०, ३.४३। ५ यात्रानुकूलेऽहनि वही, १६.२५। ६ रघु०, ५.३६। ७ कुमा०, ७.१। ८ वही। ९ दैवचिन्तकाः माल०, पृ० ७१।

जैसा कि आशा की जा सकती है, व्याधिके भी सामान्यतया अनेकों उल्लेख हैं। हम व्याधियों,[1] उनकी चिकित्सा,[2] ओषधि,[3] और आरोग्य[4] प्राप्ति और वैद्य[5] या भिषजके सम्बन्धमें पढ़ते हैं। कविने पित्त[6], राजयक्ष्मा[7] और सन्निपात[8] व्याधियोंका उल्लेख किया है। पित्त-दोषसे भ्रम, मनकी अस्थिरता और उत्कट क्रोधकी[9] उत्पत्ति मानी जाती थी और इसके शमनके लिए मिष्ठान्न और स्वादिष्ट भोजनकी[10] आवश्यकता थी जैसा कि विदूषक चाहता है क्योंकि एक स्थान पर भोजनके[11] अभावके कारण पित्त-प्रकोप उत्पन्न हुआ था। राजयक्ष्माका सांघातिक रोग वैद्योंके सारे प्रयत्नको निरर्थक कर देता था और असाध्य[12] था। इसके लक्षण दिये गये हैं—मुखपर पीलापन, क्षीणता,[13] सहाराके बल चलना (अन्तिम अवस्थामें), बोलीमें कर्कशता और बढ़ी हुई भोगेच्छा।[14] तथापि इनका कारण कहा जाता था सम्भोगका व्यतिक्रम[15] (रतिरागसम्भवम्)।

---

१ लंघित एष.. व्याधिना—शाकु०, पृ० १६७। २ न जाने... इति—वही। ३ कुमा०, २.४८; रघु०, १२.६७; माल०, पृ० ३२, ६८। ४ रोगशान्ति रघु०, १६.५४, स्वस्थो भवतु विक्र०, पृ० ५६; माल० पृ० ६६। ५ वैद्य रघु०, १६.५३; माल०;पृ० ३२, ६८, भिषज रघु०, १.२.१२, ८.६३, १६.४६। ६ पित्त, विक्र०, पृ० ५६। ७ रघु०, १६.४८, ५०। ८ कुमा०, २.४८। ६ मिलाकर "धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च। अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य चिह्नम् ॥" टीकाकारका उल्लेख। १० त्वरयस्वास्य भोजनं विक्र०, पृ० ५६ कफं दुर्जनवत् तीक्ष्णैर्वातं स्नेहेन मित्रवत्। पित्तं जामातारमिव मधुरैर्भोजनैर्जयेत् ॥ टीकाकार-द्वारा उल्लेख। ११ कुप्यति पित्तमुपोष्णतः अंजननिदान, टीकाकार-द्वारा उल्लेख। १२ रघु०, १६.५३। १३ अक्षिणोत् वही, ४८। १४ वही, ५०। १५ रतिरागसंभवो वही, ४८।

आधुनिक विज्ञानने निस्सन्देह प्रमाणित कर दिया है कि इस व्याधिके कारण यक्ष्माके कीटाणु हैं जो शरीरके किसी अंग पर आक्रमण करते हैं वहीं इकट्ठे होते और बढते हैं वे अपने चारो ओरके भागको नष्ट कर देते हैं और श्लेष्मा, ज्वर और इसी प्रकारके अन्य लक्षण उत्पन्न करते हैं। आधुनिक प्रामाण्य पुरुषोने सभोगको भी एक कारण माना है किन्तु मुख्य कारण नही। इससे स्पष्ट है कि कालिदासके कालके वैद्योको कीटाणु-सिद्धान्त नही मालूम था। इस सिद्धान्तके सम्बन्धमें चरकने भी कुछ नही कहा है। रोगका चरम दोष सन्निपात था जिसमे दोषयुक्त मस्तिष्क भ्रमित हो जाता था। इसकी चिकित्साके लिए बडी तगडी ओषधियाँ निश्चित[१] की जाती थी। विष[२] और उनके विषघ्न[३] ज्ञात थे। उनके सिद्धान्तका अर्थक था कल्प[४]। एक वर्गके वैद्य विषका उपचार करते थे वे विषवैद्यके[५] नामसे प्रसिद्ध थे। कुछ रोगोको दूर करनेके लिए जादू-मन्तरका भी प्रयोग होता था। सर्पदशके विषको दूर करनेके लिए 'उदकुम्भ विधान'[६] नामका एक सस्कार किया जाता था। इस सस्कारके क्या विधान थे दूसरे साधनोंसे निश्चित किये जा सकते हैं। एक बिना फूटा-टूटा मिट्टी का घडा ले लिया जाता था। इसके कनखेमे कुँआरीका काता सूत लपेट देते थे। कई खास पौधोको पीसकर एक लेप बनाया जाता था जिसको 'कुमारी' के रसमें मिला देते और फिर उसको घडेमे रख देते। इस लेप और मधूक, मधूकपद्म, केसर तथा चन्दनसे घटका बाहरी भाग सुवासित होता। तब एक मौनावलम्बी पुरुषके द्वारा ताम्रपात्रमे लाया हुआ जल घडेमे भर दिया जाता। घडेमें जल डालते समय कुछ मत्र पढे जाते। जब घडा भर जाता प्रयोजक उसे छूता और उत्तराभिमुख खडा होकर वह दूसरे मत्रसे घटको अभिमन्त्रित करता। फिर एक सद्य स्नाता कुमारी

---

१ कुमा०, २.४८। २ माल०, पृ० ६७, ६९; रघु०, ११.१ ६१। ३ महौषधि रघु०, १२.६१। ४ माल०, पृ० ६९; निवृत्तविषवेगः वही। ५ विषवैद्यानां कर्म संप्रति वही। ६ वही।

कुछ अन्य पौधोंको पीसकर पानीमें मिला देती। इस प्रकार प्रस्तुत जल सर्पदंश वाले स्थान पर छिड़का जाता और उसी मंत्रका बार-बार उच्चारण किया जाता। ऐसा माना जाता था कि इस प्रकार भयंकरसे भयंकर सर्पदंश भी दूर किया जा सकता है। इस क्रियाका वर्णन पूर्णतया 'भैरवतंत्र' में है। 'उदकुम्भविधान'के सदृश ही 'नागमुद्राविधान' नामक एक संस्कार था जिसके अनुसार एक अँगूठी या इसी प्रकारकी कोई वस्तु, जिसपर सर्पकी आकृति अंकित होती, अभिमंत्रित कर सर्पदंशका विष दूर करनेके काममें आती थी। ऐसा करनेमें भी जो विष दूर करनेवाला है, वह है सर्पदंश दूर करनेवाला अभिमंत्रित जल जो मंत्रोच्चारके साथ दंष्ट व्यक्ति पर छिड़का जाता था। इसका पूर्ण विवरण रसरत्नावलीमें है। सर्पदंश के विषके नाशनके लिए प्रभूत जल-प्रयोगकी क्रिया 'शीत-क्रिया'[१] कहलाती थी। स्पष्ट है कि कालिदास किसी प्रामाणिक आयुर्वेदिक ग्रंथमें विष-नाशनके[२] लिए दष्ट स्थानको काटने, जलाने या खून निकालनेकी विधिका उल्लेख करते हैं।[३] इस प्रकार शस्त्र-क्रिया भी कथित हुई है। मंत्र-शक्तिसे किसी सर्पकी गति एक घेराके भीतर बाँध दी जा सकती थी। 'विषवल्ली'[४] और 'महौषधि'[५] वाक्यांशोंसे एक घातक विष तथा एक महा आरोग्यक ओषधिका क्रमशः बोध होता है। मद्यकी मादकता दूर करनेके लिए 'मत्स्यन्दिका'[६] नामकी एक विशिष्ट प्रकारकी चीनीका प्रयोग कहा गया है जिसकी पुष्टि कई आयुर्वेदिक विशेषज्ञोंने[७] की है। 'मालविकाग्निमित्र'की परिव्राजिका ओषधिविज्ञानमें[८] निष्णात है।

---

१ शीतक्रिया प्रशस्ता माल०, पृ० ७०। २ वही, ४.४; उसी प्रकारकी ओषधियाँ वाग्भट्टमें दी गयी हैं। ३ रघु०, २.३२; कुमा०, २.२१। ४ रघु०, १२-६१। ५ वही। ६ एतत्खलु...उपनता-माला, पृ० ४२, मिलाकर वाग्भट्ट, १.५, ४६; अजीर्णामृतमञ्जरी, ४२ काशीराज और योगाकार-द्वारा मदायत्तचिकित्सा इस पर। ७ वही। ८ माल०, पृ० ६७; ४.४।

कालिदास 'कुमारभृत्य'[1] का उल्लेख करते हैं। आयुर्वेदके आठ अंगोंमें (अष्टांगहृदय) एकका नाम सुश्रुतने 'कुमारभृत्य' रखा है जिसमें गर्भके पूर्ण विकास और गर्भ-काल तथा प्रसवके उपरान्त माताको सावधानी रखनेका वर्णन है। गर्भकी[2] अवस्था (दोहद) और उसके लक्षणके उल्लेख-बाहुल्य हैं। लक्षण[3] हैं: अंगकी कृशता[4], मुखपर[5] पीलापन, मिट्टी[6] खानेकी प्रवृत्ति, स्तनोंकी पीनता और चूचुकोंकी बढ़ती हुई कालिमा।[7] प्रसूति-गृहका भी वर्णन है। इसको सूतिका-गृह[8] कहते थे। हमें बच्चेको दूध पिलानेवाली[9] धात्रीका[10] भी लेख मिलता है। रघुवंश, ८. ९४, १२, ९७, १४ ९४ प्रभृतिमें रोग और उनकी चिकित्साके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अन्य उल्लेख भी आये हैं। 'मेघदूत'के एक पद्यकी व्याख्या करते हुए मल्लिनाथ एक व्यनिका चित्रण करते हैं और वाग्भट्टका[11] प्रमाण देते हैं। हमें एतादृश उल्लेख शा०, २ ४०, रघु०, ९.५९, २.३२, ४ ७५, ७ ५४, ९.७०, १२ ६१, १४ ८०, और कु०, ६.४५ में मिलते हैं। मालविकाग्निमित्रमें ४ ४ और आगे उसीमें, ध्रुवसिद्धि आदिमें सुश्रुतका उल्लेख है।[12]

---

१ रघु०, ३.१२, मिलाकर कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोष-संशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्। टीकाकार-द्वारा सुश्रुतका उल्लेख। कुमारभृत्या गर्भिण्याः परिचार्योच्यते। हारावली टीकाकारका उल्लेख। २ रघु०, ३.१, ६, १४.२६। ३ वही, ३.१। ४ वही, ३.२, ७, १०.६६। ५ वही, ३.२, १०.५९, १४.२६; मिलाकर वाग्भट्टका टीकाकार-द्वारा उल्लेख। ६ मृत्सुरभि रघु०, ३.२। ७ वही, मिलाकर वाग्भट्टका टीकाकार-द्वारा उल्लेख, अम्लष्टता स्तनौ पीनौ श्वेतान्तौ कृष्णचूचुकौ। ८ अरिष्टशय्या रघु०, ३.१५, १०.६८। ९ वही, ३.२६, १०.७८, १३.६२। १० धात्रीस्तन्यपायिनः वही, १०.७८। ११ "कापायाश्चाहिमास्तस्य. . .योगिन."। १२ मिलाकर चिकित्साकल्प, अध्याय ५ (पृ० २५), २.३।

कालिदास दूसरे बाह्य साहित्यका उल्लेख करते हैं जिनपर अब हम विचार-विमर्श कर सकते हैं। यद्यपि उदाहरण कभी-कभी अन्धकारमें विलीन होते हैं तथापि कविके विचारों तथा उनके सम्भव साधनोंके मध्य एक सम्भव समानान्तरता लाना बहुत कठिन नहीं है।

अन्य साधन और साहित्य

तत्कालीन जिस साहित्यसे उन्होंने अपनी अधिकांश अमर कृतियोंकी कथावस्तुको लिया उसका उल्लेख किये बिना वे नहीं रह सके। अभिज्ञान-शाकुन्तलकी कथा-वस्तु महाभारतसे, विक्रमोर्वशीयकी ऋग्वेद[1] और शतपथ[2] ब्राह्मणसे, मालविकाग्निमित्रकी पुराणोंसे, रघुवंशकी रामायण और विष्णुपुराणसे और कुमारसम्भवकी पुराणोंसे ली गयी। हम देख चुके हैं कि वे सीधे वेदों, पुराणों, इतिहासों[3] और निबन्धोंका[4] संकेत करते हैं। उनके ज्ञानके अन्य साधन थे, मनुस्मृति, कामसूत्र, उशनकी[5] नीतिके अध्ययनका उल्लेख करनेके कारण शुक्रनीतिका विशिष्ट संस्करण, अर्थ-शास्त्र, संगीत, ज्योतिष और आयुर्वेदके सम्बन्धित निबन्ध जिनके सम्बन्ध-में हम लिख आये हैं और दूसरी विविध रचनाएँ। फिर हमें 'रघुवंश', १. ६१, १५.७६ और 'कुमारसम्भव', २.१२ में ऋग्वेदका उल्लेख प्राप्त होता है। 'मालविकाग्निमित्र'के अश्वमेध यज्ञमें यजुर्वेदका उल्लेख निहित है और 'रघुवंश' १.५९ तथा १२.१३ मे अथर्ववेदका संकेत है। इसी प्रकार उनकी रचनाओं पर औपनिषदिक विचारोंका गहरा प्रभाव पड़ा है। उनकी देव-स्तुतियोंसे उपनिषदों और भगवद्गीताके द्वारा प्रतिपादित दर्शनके भाव प्रकट होते हैं। किन्तु इस विचार-बिन्दु पर हम आगे यथा-स्थान प्रकाश डालेंगे।

राजत्वके ईश्वरदत्त अधिकारके सम्बन्धके कालिदासके विचार बिलकुल मनुसे मिलते-जुलते हैं। व्यक्तिगत शुद्धता तथा सामाजिक

---

१ १०.९५। २ ५.१–२। ३ शाकु०, पृ० ९१। ४ वही; पृ० ९१। ५ कुमा०, ३.६।

संस्कारोंके भी सम्पादनमें कवि अधिकतर मनुका अनुसरण करता है। इस बातसे इस विचारको और भी बल मिलता है कि वह बहुधा मनुका नामोल्लेख करता है। मनुके सिवा बहुत-से स्मृतिकारों या उनकी स्मृतियोंके विषयोंका अप्रत्यक्ष उल्लेख किया गया है। 'श्रुतिके[1] भावका अनुसरण करनेवाली स्मृतियाँ'—यह कालिदासकी विशिष्ट उक्ति है। 'शाकुन्तल'का[2] सम्पत्तिका निक्षेपण और 'रघुवंश'[3] का रामके राज्यका विभाजन भाव-लक्षणसे स्मृति-नियमोंकी ओर संकेत करते हैं। 'कुमारसम्भव'[4]में नवपरिणीता वर-वधूका व्यवहार और 'रघुवंश'[5]में अज तथा इन्दुमतीका विवाह-संस्कार प्रत्यक्षतया गृह्यसूत्रोंके विवरणके अनुकरणमें हैं।

स्मृतियाँ

अपने नाटकोंमें, 'रघुवंश'के अन्तिम सर्ग या 'कुमारसम्भव'के सातवें और आठवें सर्गोंमें अपने वर्णनके लिए कविने वात्स्यायन तथा दूसरे काम-सूत्रकार, जिनकी रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं, के कामसूत्रोंका उपयोग किया है। यद्यपि वात्स्यायनके वाक्योंका कविके वाक्योंके साथ समीकरण ठीक-ठीक सम्भव नहीं तथापि समग्र दृष्टिसे प्रतीत होता है कि वह घोटकमुख, गणिकापुत्र, वात्स्यायन आदि कामसूत्रोंका संकेत कर रहा है। 'कामसूत्रों' के सामान्य निर्देश हैं—'कुमारसम्भव'के सातवें सर्गके पद्य ८-१०, १५-१६, २२, २३, २५, ८३, ८७, ८८, 'रघुवंश'के ६.१७, ११.५२, १६.१६-२१, २२-२५, ३८-४६ और दूसरे और 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' और 'शाकुन्तल'के अनेक उल्लेख। 'शाकुन्तल' की नायिकाकी सखियाँ अनसूया तथा प्रियंवदाका नायक दुष्यन्तके साथका सारा वार्तालाप 'कामसूत्र' के 'कन्यासम्प्रयुक्तक' अधिकरणसे पूर्णतः प्रभावित है और उसी प्रकार शकुन्तलाको दिये गये कण्वके आशीर्वाद पर भी उक्त रचना[6] के 'भार्याधि-

कामसूत्र

---

१ रघु०, २.२। २ अंक: ६। ३ १५। ४ ७.८४। ५ ७। ६ काम०, ४.१, ३९-४०।

करण'का प्रभूत प्रभाव है। मेघदूत, ११,४ में कवि वात्स्यायनके दशम अध्याय, द्वितीय अधिकरण[1]से लाक्षणिक पद 'प्रणयकलह'[2] का प्रयोग करता है। 'मालविकाग्निमित्र'के तीसरे अंककी समाप्ति पर राजा अग्निमित्र इरावतीके पैरो पर पड़ता है, उसी प्रकार 'शाकुन्तल'के सातवें अंकमें राजा दुष्यन्त भी। इन दोनो राजाओंका पैर-पड़ना 'वात्स्यायन'[3] के एक विशिष्ट सूत्रसे सादृश्य रखता है। 'रघुवंश' के उन्नीसवें सर्गके २३वें तथा ३३वें श्लोकोंमें 'दूती' कार्यका वर्णन है—यह कार्य 'वात्स्यायन'के पाँचवें अध्यायमें आता है जहाँ 'दूती-कर्म' का सांगोपाग वर्णन है।

'रघुवंश' और 'कुमारसम्भव' में कालिदास-द्वारा प्रयुक्त नीति-शास्त्रीय शब्दोंकी व्याख्यामें मल्लिनाथने अपनी टीकाओंमें स्वतन्त्रतापूर्वक कौटिल्य के अर्थशास्त्रके प्रमाण दिये हैं। उन भाष्योंमें अपने समानान्तर वाक्योंके साथ नीचे[4] दिये

अर्थशास्त्र

प्रमाणोंमें पहलेका उद्देश्य है 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव' दोनोंमें आने वाले 'स्वर्गाभिस्यन्दवमन' वाक्यांशकी व्याख्या, दूसरेका 'नियोग' और 'विकल्प' शब्दोंका स्पष्टीकरण, तीसरेका 'प्रकृतिवैराग्य', चौथेका 'शक्येषु यात्रा', पाँचवेंका 'पराभिसन्धान,' छठेंका 'दण्डोपनतचरितम्' और सातवेंका लक्ष्य 'तिस्रो विद्या.' विद्याकी तीन शाखाओंको बतलाना है। फिर राजाओंके लिए आखेटके एक प्रयासजनक अच्छी क्रीड़ा होनेके समर्थनमें कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तलमें ठीक उन्हीं शब्दोंका प्रयोग करते हैं जैसा कि कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रमें[5] इसी उद्देशसे किया है।

---

१ स्वभवनस्था तु निमित्तात्कलहिता तथाविधचेष्टैव नायकमभिगच्छेत्। तत्र पीठमर्दविटविदूषकैर्नायकप्रयुक्तैरुपशमितरोषा तैरेवानुनीतैः सहैव तद्भवनमधिगच्छेत्। तत्र च वसेत्। इति प्रणयकलहः। २ नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोऽभवत्ति. (कुछ संस्करण इसे छोड़ते हैं।) ३ तत्र युक्तरूपेण साम्ना पादपतनेन वा प्रसन्नमनास्तामनुनयन्नुपक्रम्य शयनमारोहयेत्—टीकाकार-द्वारा उल्लेख। ४ कई स्थानों पर पूर्वका पाठ उल्लेख। ५ मिलाकर; शाकु०, २.५; अर्थशास्त्र, ८.३।

अतः यह सिद्ध होता है कि कालिदास अपने नीतिशास्त्रीय लाक्षणिक शब्दोंके लिए कौटिल्यके अर्थशास्त्रके ऋणी थे और यह भी कि कौटिल्य[1] को छोड़कर किसी अन्य राजनीतिशास्त्रीय ग्रन्थमें मल्लिनाथको उन शब्दोंकी व्याख्या नहीं मिल सकी। 'रघुवंश'के सत्रहवें सर्गमें महाराज अतिथिके शासनके विस्तारपूर्वक वर्णनमें कविका अर्थशास्त्र तथा नीति-शास्त्रका पूर्ण ज्ञाता होना ध्वनित होता है। तथापि मल्लिनाथ कविके नीति-विषयक शब्दोंकी व्याख्याके लिए कामन्दकके 'नीतिशास्त्र'[2] के भी प्रमाण उपस्थित करते हैं।

'रघुवंश'के सर्ग ६ के २७वें श्लोकमें कालिदास 'गजसूत्रकार'का उल्लेख करते हैं। 'गजसूत्रकारों'से उनका अभिप्राय है गौतम, राजपुत्र,

अन्य उदाहृत ग्रन्थ

मृगशर्मन, पालकाप्य तथा अन्योंके निबन्धोंसे। नीचेकी पाद-टिप्पणीमें[3] कविके पालकाप्यके 'गजसूत्रों'के संकेत दिये जाते हैं। भाष्यकारों ने भी गौतम, राजपुत्र, मृगचर्मन या मृगशर्मन और पालकाप्यके प्रमाण देकर इन पद्योंकी पुष्टि की है। 'मालविकाग्निमित्र'के पहले तथा दूसरे अंकोंमें कविने जो विविध नाट्य-शास्त्रीय पदोंका प्रयोग किया है उससे उनका भरतके 'नाट्यशास्त्र'पर पूर्ण अधिकार प्रमाणित होता है। 'विक्रमोर्वशीय'के तीसरे अंकमें इन्द्रके सामने स्वयं भरतके निर्देशनमें खेले गये 'नाट्य-शास्त्र'के प्रणेताके लिखे हुए 'लक्ष्मीस्वयंवर' नामक नाटकमें उर्वशीके अपराधके कारण भरत मुनिका उर्वशीको नाट्य-शास्त्रकी शिक्षा देनेका प्रकरण सुरक्षित है। अधिकांश काल्पनिक कथाएँ, जिनकी ओर

---

१ आर० शाम शास्त्रीका अर्थशास्त्रके अनुवादकी भूमिका। २ रघु० पर; १७.५१; परेषु ६६ कोशेन और अन्य। ३ पवनस्यानुकूलत्वात् आदि; रघु०, १.४२ अनिर्वाणस्य दन्तिनः ७१ असूययेव तन्नागाः ४.२३, अंकुशं...वेदिनः ३६ गन्धः...द्विरेफाः ६.७, विनीतः १७ सुरद्विपाः वंश १६.३ रणो...दन्तिनः १७.७०।

कविका संकेत है, पुराणोंसे आयी है। विविध देवताओं, ब्रह्मा,[1] विष्णु[2] और शिवकी स्तुतियाँ पुराणोंसे ली गई हैं और दूसरे ग्रंथोंसे भी जिनमें मुख्य हैं उपनिषद् और षट्दर्शन जिनका सविस्तार वर्णन दर्शनके अध्यायमें दिया गया है। रघुवंशके सत्रहवें सर्गमें दिया राज्याभिषेकका विवरण ऐतरेय ब्राह्मणके सिद्धान्तों पर है। वाक्यांश 'तन्त्र'[3] में नीतिशास्त्रीय ग्रन्थोंका स्पष्ट रूपमें संकेत है। प्रचलित संगीतशास्त्रसे[4] भी अंश लिये गये हैं। इनके अतिरिक्त भास,[5] सौमिल्ल[6] और कविपुत्रके[7] प्रचलित नाट्य तथा काव्य-सम्बन्धी रचनाएँ थीं। इनमें भासकी रचना आज भी उपलब्ध है।

—:o:—

१ कुमा०, २.४–२५। २ रघु०, १०.७–३३। ३ माल०, पृ० ११। ४ वही, अंक १ और २। ५ वही, पृ० २। ६ वही। ७ वही।

सप्तम खण्ड

धर्म और दर्शन

अध्याय १८

धर्म

दृष्टिकोण

कालिदासकी रचनाएँ सामग्रियोंका एक भण्डार खोलकर रख देती हैं जिनसे लोगोंकी आध्यात्मिक क्रियाशीलताका एक सांगोपांग वर्णन निर्मित किया जा सकता है। यदि कविसे हमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा जनताके धार्मिक स्वरूपके असत्य निर्देश नहीं मिले होते, तो हम यह विश्वास करनेके एक सामान्य भ्रममें पड जाते कि उस युगके लोग, जब कवि जीवित था और उसने अपनी रचनाएँ समाप्त की थी, घोर प्रकृतिवादकी अवस्थामें आ पडे थे। किन्तु यही वह स्थल है जहाँ भारतीय जीवनकी महानता आगे कदम रखती है। आर्य-परिवारकी दूसरी शाखाएँ, यथा ग्रीक और रोमन, अपने 'संयमवादियों' और 'दार्शनिकों'के रहते हुए भी अन्ततोगत्वा सांस्कृतिक मृत्युके कराल गालमें कवलित हो गई जबकि हिन्दू-आर्य अपने धन और मद्य, कला और भोग-विलासकी उपस्थितिमें भी अपने आत्म-ज्ञानके कोषके साथ अद्यावधि जीवित हैं। उनकी धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओंके साथ उनके अधिकांश विश्वास तथा अन्ध-परम्पराएँ, दर्शन तथा बौद्धिक तर्कणाएँ सजीव रही हैं। कालिदासके ग्रंथोंसे जैसा प्रकट होता है हम लोगोंके धार्मिक व्यवहारोंका एक विवरण आगे उपस्थित करनेका प्रयत्न करेंगे।

लोग देवताओसे डरने वाले और धार्मिक थे। देशमे ब्राह्मण-सिद्धान्त के देव-देवियोकी भरमार थी और वैदिक यज्ञ-यागकी वेदी पर पौराणिक

देवगण

पूजा-अर्चाने पैर जमा लिये थे। अब यह समग्र चित्रण कविके अपने कालका है : और हिन्दू देवगण तथा असख्य प्रतिमाओ और धार्मिक जीवनके पौराणिक दृष्टि-कोणोंके भी बार-बार आनेवाले संकेतो पर विचार करते हुए हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचनेमे कोई बाधा नही है कि यद्यपि कालिदास प्राचीन कालके इतिहासका उल्लेख कर रहे है, वे अधिकांशमे तत्कालीन भारतका विवरण रखते है। कविकी रचनाओमें हर जगह पौराणिक विश्वासके प्रचारका प्रभाव दीख पडता है, यद्यपि औपनिषदिक विचार-प्रणाली तथा दर्शनकी सस्कृति किसी प्रकार कम लोक-प्रचलित नही मालूम होती। जहाँ वैदिक देवताओने फिरसे जन्म धारण किया था, पौराणिक देव-समुदाय प्रायः पूरा हो गया था। पूर्वकालके देवताओंने नये नाम और वातावरण ले रखा था। उनकी नामावली बढ़ती-बढ़ती विशाल-काय हो गई थी। उनकी संख्याकी अधिकता पुराणोंको और उनके द्वारा कालि-दासको 'देवताओकी सेना' (देवसेना[1]) की कल्पना दी थी।

कविने जिन वैदिक देवताओ (देवो,[2] दिवौकस.[3]) का उनकी पर्याय-विविधताके साथ उल्लेख किया है वे है—इन्द्र,[4] अग्नि,[5] वरुण,[6] सूर्य,[7]

---

१ रघु०, ७.१; कुमा०, २.५२। २ कुमा०, ७.३५। ३ वही; २.१,७.९२। ४ रघु०, २.५०, ४२, ७४, ३.२३, ३८, ३९, ४२, ४३, ४४, ४६, ४९, ५३, ६२, ६४, ४.३, २८, ९.२४, १७.८१, कुमा०, २.१, २३ आदि। ५ रघु०, १०.५०, ५१, १.६, ५.२५; शाकु०, ६.३०। ६ रघु०, ९.६, २४, १७.८१; कुमा०, २.२३। ७ विक्र०, पृ० ११,२६, ८६; कुमा०; ८.४१,४२, ४३, ४४, ऋतु०; १.१६; शाकु०, पृ० १८, ६.३०।

यम,[1] त्वष्टा,[2] द्यावा-पृथिवी,[3] रुद्र[4] और विष्णु[5]। इनमेंसे अग्नि तथा द्यावा-पृथिवीको छोड़ सभी, जैसा कि हम अगली पंक्तियोंमें देखते हैं, वर्णनमें आये हैं जिनपर उत्तरकालीन पुराणोंकी मुहर लगी है। वे अब प्रकृतिकी दिव्य शक्तियाँ नहीं हैं। वे अपने-अपने भक्तोंके अपने देवता बन गये हैं। इनमें विष्णु सूर्यकी कला नहीं रह गया बल्कि उसका सर्वशक्तिमान् पौराणिक उत्तराधिकारी बन गया जो राम, कृष्ण और बुद्ध-जैसे लोक-नायक और शूर-वीरोंमें अवतार लिया करता है। पुराने देव-समुदायमें नये प्रविष्ट देवता हैं—ब्रह्मा,[6] विष्णु,[7] शिव[8] और उनका एकत्रीकरण त्रिमूर्ति,[9] कुबेर,[10] स्कन्द,[11] शेष,[12] जयन्त,[13] लागली,[14] मदन,[15] और लोकपाल[16]।

वैदिक और पौराणिक

---

१ रघु०, २.६२, ६.६, २४, १७.८१; कुमा०, २.२३। २ कुमा०,
७.४१; रघु०, ६.३२। ३ रघु०, १०.५४। ४ कुमा०, २.२६; रघु०,
२.५४। ५ माल०, ५.२; रघु०, ३.२७, ४६, ४.२७, ६.४६, ७ १३,
३५, १० ६, १८, ६-३५, ११.८६, २८ ८; कुमा०, ३.१३; मेघ० पू०,
१५ ४६; मेघ० उ०, ४७। ६ रघु०, ५.३६; कुमा०, १.१, २.३,
४-१५। ७ ऊपर देखो। ८ रघु०, १.१, २.३५, ३६, ३८, ४४, ३.४६
११ १३, १८ २४; कुमा०, १ ५७, २.५७, ६०, ३.१७, ६५–७०, ५.७७
८१, ६ १६-२४, २६, ७५-७७; शाकु०, १.१; विक्र०, १.१; माल०
११ आदि। ९ कुमा०, २.४। १० रघु०, ५.२६, २८, ६.२४, २
१४.२०, १६ १०, १७ ८१; कुमा०, २.२२, २३, ३.२५; मेघ०
७। ११ रघु०, २.३६, ३७; कुमा०, .५२; मेघ० पू०, ४३, ४
१२ रघु०, १०.१३.७। १३ वही; ३.२३, ६.७८। १४
पू० ४६। १५ कुमा०, ३.२२, २.६४, ३.१०, २१, २३,
आदि। १६ रघु०, २.७५; कुमा०, ७.४५।

वैदिक देवियोंमें केवल इन्द्रकी पत्नी शची,[१] सरस्वती[२] (भारती)[३] और पृथिवी (द्यावाके[४] साथ) का उल्लेख है। इनपर भी पौराणिक धारणाओंका गहरा रंग चढा है और इनको यदि वैदिक भाव-भंगिमाकी दृष्टिसे देखा जाय तो ये कदाचित् ही पहचाने भी जा सकें। सरस्वती और भारती अपनी मूल वैदिक देवियोंके[५] असमान दो भिन्न-भिन्न देवियाँ नही हैं प्रत्युत भारती का एकीकरण सरस्वतीके साथ किया गया है और दोनोसे विद्याकी[६] देवी का भाव प्रकट होता है। इस युगमें पौराणिक देवियाँ भारी पड़ गई हैं और उनका नामकरण हुआ है—लक्ष्मी,[७] पार्वती[८] और सप्त अम्बिकाएँ (मातरः)[९]।

देवियाँ

गन्धर्व,[१०] यक्ष,[११] किन्नर,[१२] किंपुरुष,[१३] अश्वमुख्य,[१४] पुण्यजन,[१५] विद्याधर[१६] और सिद्ध[१७]—जैसे भूचर देवोंकी एक सख्याने या तो नवीन रूपमें अपनेको प्रकट किया है या अपने वैदिक पूर्वजोंके कुलमें पुनर्जन्म पाया है। सिद्धांगनाओं[१८] का उल्लेख हो चुका है। गन्धर्वोंकी स्त्रियाँ 'अप्सरस.'[१९] या 'सुरागना'[२०] कही गयी है।

भूचर देव और देवियाँ

---

१ रघु०, ३.१३, २३। २ वही; ४.६; ६.२९; कुमा०, ७.९०। ३ रघु०, १०.३६। ४ वही; १०. ५४। ५ मिलाकर; ऋग्वेद, १.३, १०, ११, १२; १.२२, १०। ६ मिलाकर रघु०, ४.६; कुमा० ७.९०। ७ मेघ० पू०, ३२; रघु०, ४.३, १०.८, आदि। ८ कुमा०, ५.६-२९, ६.८०, ८१, ८.१८, ७८; रघु०, १.१; मेघ० पू०, ३६, ४४ आदि। ९ कुमा०, ७.३८, ३९। १० रघु०, ५.५३; कुमा०, ७.४८ आदि। ११ कुमा०, ६.३९; मेघ० पू०, १ और दूसरे आदि। १२ रघु०, ८.६४, कुमा०, १.८, ११, १४, ६.३९; मेघ० पू० ५६। १३ कुमा०, १.१४। १४ अन्तेका उल्लेख। १५ रघु०, ९.६। १६ रघु०, २.६०; कुमा०, १.४। १७ कुमा०, १.५; मेघ० पू०, ४५। १८ मेघ० पू०, ४५। १९ विक्र०, १.२, ३; रघु०, ७.५३ आदि। २० रघु०, ६.२७ आदि।

कालिदासने लोक-धर्मके उस अंगका भी संकेत किया है जिसमें प्राणियो तथा निर्जीव पदार्थोको देवत्व पद दिया जाना विशेप लक्षित होता है।

प्राणियों, नदियों आदिका देवत्व

इस प्रकार शिवका वाहन वृष,[1] विष्णुका वाहन गरुड़,[2] विष्णुशय्या शेष[3] और शिवकी पत्नी पार्वतीकी सवारी सिंह[4] सभीको देवत्व प्राप्त है। उसी प्रकार गाय[5] भी पवित्र समझी गई है और दिव्य गुणोवाली[6] है। वह और सिंह[7] मनुष्यकी भाषा जब चाहें बोलते है। शिवके निवासके[8] सिंह-द्वारकी रक्षा नन्दी करता है। इन्द्रके वाहन ऐरावतका[9] भी नामोल्लेख हुआ है। नदियोको भी देवत्व प्रदान किया गया है और गगा तथा यमुना प्रधान देवताओकी चामर-धारिणीका[10] काम करती है। ब्रह्मावर्त्तकी सरस्वती[11] भी उसी प्रकार देवी कही गई है। तीनो मिलकर त्रिवेणी[12] नामसे प्रसिद्ध पवित्र संगम बनाती है।

दैत्य-दानव

देवताओंके शत्रु दानवोकी सख्या किसी प्रकार कम नही है और जिस प्रकार पौराणिक देवताओकी सख्या-वृद्धि हुई है उसी प्रकार दैत्य[13] (सुरद्विष.)[14] भी बढते गये है। दैत्योकी भयभीत करनेवाली मुद्राओकी रचनाके विना देवोकी महानताकी प्रशसा कैसे सम्भव होती। अतः रावण,[15] कालिय[16] और लवण[17] जैसे असुरोका उल्लेख आया है। पुराणके ढग पर दो क्रूर ग्रहो, राहु[18] और केतुको[19] भी दैत्योमें परिगणित किया गया है।

---

१ रघु०, २.३५, ३६; कुमा०, ३.४१, ७.३७, ४६, आदि। २ रघु०, १०.१३ आदि। ३ शाकु०, ५; रघु०, १०. ७, १३। ४ रघु०, २.३५, पूर्व और पीछे। ५ वही; १.७५-८१, २। ६ वही; २.६१। ७ ३४-४०, ४७–५१, ५२। ८ कुमा०, ३.४१। ९ रघु०, ४ ५५। १० कुमा०, ७ ४२। ११ मेघ० पू०, ४९। १२ रघु०, १३ ५४-५८। १३ वही; १०.१२ आदि। १४ वही, १५ आदि। १५ वही; १२.५१, ५५, आदि; मेघ० पू०, ५८ आदि। १६ रघु०, ६.४९। १७ वही; १५.१७। १८ वही; २.३९। १९ वही।

शिवके अनुचर गण[1] कहलाते है जो प्रेत-योनिके है। उसी प्रकार शिवकी अर्द्धांगिनी पार्वतीकी सगिनी योगिनियाँ[2] है। शाकुन्तलमें[3] विदूषकको अभिभूत करनेवाले एक प्रेतका उल्लेख है जो अदृश्य था।

वनमें रहनेवाले देवता-वर्ग, वनदेवताका[4] भी संकेत है जो कृपालु कहे गये है। पितृगण[5] (परलोकनिवासी पूर्वज) भी देवताओंमें शामिल है और उसी प्रकार सप्तर्षि[6] या ब्रह्मर्षि[7] भी। परशुराम,[8] कार्त्तवीर्यार्जुन,[9] सगर,[10] ययाति[11], दिलीप[12], रघु[13] और अज तथा एतादृश अन्य प्राचीन ऐतिहासिक तथा पारम्परिक महापुरुष और वीर योद्धा प्रायः दिव्य शक्ति-सम्पन्न है।

कुछ प्रसिद्ध वैदिक तथा पौराणिक देवी-देवताओ और अन्य अति-मानवोका, अगली पंक्तियोमें उल्लेख किया जायगा।

इन्द्र

ऋग्वेदके विश्वदेवोमें इन्द्र सर्वाधिक शक्तिमान्[14] था किन्तु पीछे चलकर उसका स्थान पौराणिक देव-समुदायके अल्पवयस्क देवताओंने ले लिया जिनमे विष्णु और शिव अधिपति देव हो गये। कालिदास प्राचीन कथा-प्रसग[15]-में सामान्यत. इन्द्रका उल्लेख करते है। यह देखनेमे आयेगा कि उनके कालमें इन्द्रधनुपके[16] प्रथम दर्शन और यज्ञ[17] के अवसरोंके सिवा अन्य

---

१ कुमा०, ७.३६, ४० आदि। २ रघु०, ११.५। ३ अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य शाकु०, पृ० २२३; मिलकर, रघु०, ११.१६। ४ कुमा०, ६.३९, ७.३८, ४०। ५ रघु०, १.६६, ६७, ६९, ७१, ५.८ आदि। ६ कुमा०, १.१६, ६.३, ६, ७, ३–१२; रघु०, १०.६३ आदि। ७ रघु०, १०.६३। ८ वही; ११.६८, ६१-६८; मेघ० पू० ५७। ९ रघु०, ६.३८। १० शाकु०; ३। ११ माल०, पृ० १०२। १२ रघु०, १.२,३। १३ वही; ३.४। १४ उनका २५० मन्त्रोंसे सम्बोधन हुआ मिलाकर वैदिक माइथोलोजी, पृ० ५९। १५ रघु०, ३; कुमा०, ९ ७.४५; शाकु०, ६। १६ रघु०, ४.३। १७ वही; ३.३८, ४४, ६.२३।

प्रकार इन्द्र-देवके पूजनकी प्रथाका अन्त हो गया था। पौराणिक कथाओंके अनुसार एक सौ यज्ञ करनेवाला भूपति इन्द्रकी पदवी प्राप्त करता था किन्तु इन्द्र उसके सौ यज्ञ पूरा न होने देनेके लिए अनेकों प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित करता और इस प्रकार अपना नाम 'शतक्रतु' अक्षुण्ण रखता। कविके शतक्रतु शब्दका यही भाव है।[१] यही कारण है कि हम देखते हैं कि निन्यानवे यज्ञ समाप्त करने वाले एक राजाके राजसूय यज्ञके अश्वको[२] इन्द्र चुरा रहा है। फिर भी इस देवको अनेक नामोंसे सम्बोधित किया गया है जो पौराणिक कथाओंके अनुकरणमात्र हैं, यथा, वज्री,[३] पुरुहूत,[४] शतक्रतु,[५] वृत्रशत्रु, वज्रपाणि, पुरन्दर,[६] सुरेन्द्र,[७] शक्र,[८] पर्वतपक्षशातन[९], हरि,[१०] मघवा,[११] गोत्रभिद्,[१२] वासव,[१३] बिड़ौजा,[१४] सुरेश्वर,[१५] प्राचीनबर्ही,[१६] तुरासाह,[१७] सहस्रनेत्र।[१८] गुप्त-शिला-लेखमें एक राजाकी लूट-खसोटोंकी उपमा इन्द्रकी[१९] लूट-खसोटोंसे दी गई है। उनका पुत्र जयन्त[२०] एक आदर्श राजकुमार समझा जाता था। ऋग्वेदका[२१] दूसरा मुख्य देवता अग्नि पीछे पड़ गया है और उसका जिक्र केवल यज्ञ,[२२] विवाह[२३] आदिमें ही आता है।

---

१ वही, ३.३८, ४६। २ वही, ३६ ५०। ३ वही, ४.३। ४ वही, ४ ३८। ५ वही, २.४२। ६ वही, ३.२३, ५१। ७ वही, २। ८ वही, ३६। ९ वही, ४२। १० वही, ४३। ११ वही, ४६। १२ वही, ५३। १३ वही, ५८। १४ वही, ५६। १५ वही, ५४। १६ वही, ४.२८। १७ कुमा०, २१। १८ रघु०, ६ २३। १९ समुद्रगुप्तके सभी लेख, १.२६; चन्द्रगुप्तका मथुरा शिला-लेख २। २० रघु०, ३.२६, ६७८। २१ उनका मन्त्रोंसे सम्बोधन हुआ मिलाकर, वेदिक माइथोलोजी, पृ० ८८। २२ रघु०, १०.५०, ७६ आदि। २३ वही, ७ २०, २४; कुमा०, ७ ८१।

तपस्वी, वैद्य और इसी प्रकारके अन्य व्यक्तियोंमे जब राजा मिलता था तो एक ऐसे अग्न्यागारमें मिलता था जहाँ सदा अग्नि प्रज्वलित[1] रहता था। आहुतियाँ लेनेके कारण वह 'हविर्भुज'[2] कहा गया है।

अग्नि

ऋग्वेदके 'विश्वेदेवा'का वरुण जलका देवता (जलेश्वर)[3] हो जाता है, किन्तु वह दुष्ट-दमनका अपना स्वभाव नही छोड़ता, यद्यपि ऋग्वेदमे भी उसे प्रायः जलका[4] व्यवस्थापक कहा गया है, उसका सम्बन्ध सागरके[5] तथा दूसरे जलके[6] साथ है। वह अष्ट लोकपालोमेंसे है और उसीके पदसे कालिदासका राजा कुमार्ग पर चलने वालेको न्यायके लिए उपस्थित करता है (नियमयसि कुमार्गप्रस्थितान्,[7] पथच्युताः[8])। कुशान और गुप्त मूर्तियोमें वरुणको मगरपर बैठे और दण्डके लिए पाश धारण किये दर्शाया गया है। वह गुप्त-शिलालेखोका[9] परिचित देवता है।

वरुण

यम, जिसके दूसरे नाम है, दण्ड,[10] वैवस्वत[11] और अन्तक ऋग्वेदमें[12] पचास बार आया है और प्रथम तथा दशम मण्डलोमें पूरे तीन मत्र उसके लिए कहे गये है। वह ऋग्वेदमें 'भलोको आशीर्वाद तथा दुष्टोको शाप'[13] देता है। कालिदासके समय तक उसका यही काम रहता है। दुष्टोको दण्ड देनेके लिए उसका जो आयुध है उसका नाम है कूटशाल्मली जिसकी आकृति

यम

---

१ रघु०, ५.२५; शाकु०, ५। २ रघु०, १०.७६। ३ वही, ६.२४, १७.८१। ४ २.२८, ४, ५.८५, ६। ५ १.१६१, १४, ८.५८, १२; ७.८७, ६। ६ ७.४९, ३.६,९०, २। ७ शाकु०, ५.८। ८ रघु०, अन्य स्थानों पर टेक्स्टका उल्लेख। ९ समुद्रगुप्तके सभी P. लेख, १.२६, चन्द्रगुप्तका मथुरा शिला-लेख २. आदि। १० कुमा०, २.२३। ११ रघु०, १२.९५। १२ वैदिक माइथोलोजी, पृ० १७१। १३ ५.४२, ६।

काँटेदार सेमल-सी है। कवि इस आयुका संकेत करता है। गुप्त-शिलालेखोंमें[2] यमको अन्तक नामसे अंकित किया गया है।

त्वष्टा देवताओंका शिल्पी है। उसका पैंसठ वार ऋग्वेदमें उल्लेख आया है। वह पश्चात् आनेवाले विश्वकर्माका अग्रदूत है और जहाँ मारकण्डेय पुराणकी[3] कथाकी ओर संकेत किया गया है वहाँ कविने एक प्राचीन प्रसंगमें उनका उल्लेख किया है। त्वष्टाकी पुत्री सजनाका विवाह सूर्यसे हुआ था और ऐसा कहा जाता है कि उस देवताने सूर्यको चक्कर खाते खराद पर रखा और उसके प्रकाश-पुंजका एक भाग छिल दिया क्योंकि उनकी पुत्रीको सूर्यका अतीव तेज सह्य नहीं था। इस प्रकार सूर्यका जो भाग छिन गया उससे त्वष्टाने विष्णुके सुदर्शन, शिवके त्रिशूल, यमके दण्ड और देवताओंके दूसरे अस्त्र-शस्त्रोंका निर्माण किया जिनके द्वारा दानवोंका नाश किया गया।

त्वष्टा

रुद्र, जिसके लिए ऋग्वेदमें[4] पूरे तीन मंत्र प्रयुक्त हुए हैं, कालिदास[5] ने शिवके साथ एकीकरण किया है। किन्तु यह स्मरण रखने योग्य है कि पश्चात् वैदिक साहित्यमें शिवका सामान्य नाम त्र्यम्बक जिसको कविने[6] भी शिवकी एक पदवीके रूपमें प्रयोग किया है वैदिक[7] पाठमें रुद्रके लिए आया है।

रुद्र

सूर्य भी ऋग्वेदके विश्वदेवोंमें[8] था और उसके दूसरे गुण जो सवितामें निहित थे कालिदासके द्वारा उसके सविता[10] शब्द-प्रयोगमें प्रकट होते हैं।

१ रघु०, १२.९५। २ समुद्रगुप्तके सनी सभी P. लेख, १.२९; इरन्स्ट-लेख वही, १.९; चन्द्रगुप्तका मथुरा शिला-लेख २. आदि। ३ वैदिक माइथोलोजी, पृ० ११६। ४ १०६-१०८। ५ वैदिक माइथोलोजी, पृ० ७४। ६ रघु०, २.५४; कुमा०, २.२६। ७ वही। ८ वाजसनेयी संहिता, ३.८; शतपथब्राह्मण, २.६, २.९। ९ उसका दस पूर्ण मन्त्रोंसे ऋग्वेदमें सम्बोधन हुआ; मिलाकर वैदिक माइथोलोजी, पृ० ३१। १० ऋतु०, १.१६।

उसको रवि,[1] भानु,[2] हरि,[3] सप्तसप्ति[4] और हरिदश्वदीधिति[5] जैसे दूसरे नाम भी दिये गये हैं। उसके अश्वोका उल्लेख ऋग्वेदमें[6] आ चुका है। यहाँ यह सूचित किया जा सकता है कि सूर्योपासना वैदिक कालका एक विशेष

सूर्य

अंग थी किन्तु सूर्योपासनाका धार्मिक रूप पीछेसे उपासनके विदेशी ढगमें भारतमे लाया गया। भविष्य पुराणकी[7] सुरक्षित पारम्परिक वार्त्ता, जाम्ववतीसे उत्पन्न कृष्णके पुत्र साम्वने सिन्धु-प्रदेशमे चन्द्रभागाके किनारे सर्वप्रथम सूर्य-मन्दिर वनवाया था और सूर्य-देवकी पूजाके लिए शाकद्वीपीय ब्राह्मणो (मग पुजारियो) को वुलाया था, उक्त विचारकी पुष्टि करती है। यहाँ यह उल्लेख करना सगत होगा कि वराहमिहिरके अनुसार सूर्य-मन्दिरके[8] पुजारीके पद पर शाकद्वीपीय ब्राह्मणकी ही नियुक्ति होनी चाहिए। यह मनोरजक है कि कुशान-काल[9] की सूर्य-प्रतिमाके नमूने सूर्य देवताको एक छूरा, एक चुस्त कुर्त्ती और मध्यएशियामें पहने जाने वाले लम्बे जूतोका एक जोड़ा देकर, इस देवताके प्रति विलकुल विदेशीय व्यवहार किये जानेके साक्षी है और अन्तिम, जूतोके जोड़े कुशल[10] राजकीय तथा सैनिक प्रतिमाओपर विशेषतया लक्षित होते हैं। कालिदास सूर्य

---

१ कुमा०, ८.४३, ४४, शाकु० ५.५। २ शाकु०, ५.४। ३ वही, पृ० १८। ४ वही, ६.३०। ५ रघु०, ३.२२। ६ ९.६१, १६। ७ अध्याय, १३९। यह स्मृत किया जा सकता है कि मुल्तानमें चन्द्रभागा (चनाव) के किनारे अवस्थित एक सूर्य-मन्दिरको ह्वानसंगने अपनी आँखों देखा था। चार शतक पश्चात् अलवरुनीने उसीका अवलोकन किया था जो सतरहवीं शतीमें औरंगजेव के हाथों भस्मीभूत किया गया। स्पष्ट है कि यह मन्दिर साम्वका वनाया नहीं था, किन्तु यह भविष्यपुराणके संकेतोंमें से एक हो सकता है जिसको पुराणकार साम्वके नामके साथ सम्बन्धित करता आया था। ८ वृहत्संहिता, ६०, १९। ९ मथुरा संग्रहालय, प्रदर्शन नं० D. ४६। १० मथुरा-संग्रहालय प्रदर्शन १०, २१२ (चष्टन) २१३ (कनिष्क), और २१५ (वेम कदफिसेस)।

भगवान्‌की प्रतिमा वाले एक मन्दिरका उल्लेख करते हैं और उस मन्दिर में, जिसके पदपर, स्पष्ट ही मूर्तिके पद पर, (पादमूलम्)[1] उनकी उपस्थिति आवश्यक थी, लौटते हुए लोगोंका जिक्र करते हैं। हम जानते हैं कि उत्तरी भारतमें, विशेषकर काश्मीरमें और हूणोंके कालमें विशिष्ट रूपसे सूर्योपासना की प्रथा प्रचुर रूपमें चल पड़ी थी। सूर्यके अनेक मन्दिर बनवाये गये जिनमें काश्मीरका मार्तण्डमन्दिर सर्वापेक्षा प्रसिद्ध था जिसका भग्नावशेष आज भी देखा जा सकता है। कुशाण और शक साधारणतः सूर्यके बड़े उपासक थे यद्यपि आगे चलकर शैवधर्मने उनपर अपना पूरा आधिपत्य कर लिया। सूर्यके उपासकोंको सूर्य देवकी सुन्दर प्रतिमाएँ देनेका एक उत्पादक केन्द्र प्रतीत होता है और उनके बहु-संख्यक नमूने, जो कुशाण कालसे आरम्भ होते हैं, मथुराके संग्रहालयमें रखे हुए हैं। कालिदासके लेखमें इस देवताके सात घोड़े हैं, सभी हरे[2] रंगके (हरिदश्व) हैं जो उसके रथमें जुते हुए हैं। भास्कर्य कृतियोंमें सात और कभी-कभी चार घोड़े सूर्यका रथ खींचते हैं। मथुरा संग्रहालयकी प्रतिमाओंके रथोंमें घोड़े जुते हुए हैं जो रथको लेकर उड़ते हुए पूरे उत्साह भरे भाव प्रकट करते हैं। प्रतिमा स्वयं दाहिने हाथमें छुरा लिये, एक चुस्त कुर्ती पहने और जैसा ऊपर कहा गया है, कुशाणों तथा दूसरे मध्य एशिया निवासियोंके सदृश लम्बे जूतोंका एक जोड़ा पैरोंमें दिये पैर सटाये बैठनेकी मुद्रामें प्रस्तुत की गई है। मूर्ति-निर्माण सहज ही अभिव्यंजनाकी विजातीय पद्धतिको स्पष्ट करता है। बनारसके भारत-कला-भवनके संग्रहोंमें सूर्य-प्रतिमाओंके बीच एक स्वदेशी प्रतिमा देखी जा सकती है जहाँ सात घोड़ों वाले रथ पर देवता खड़ा या बैठा है और उसका ऊरुहीन सारथी अरुण रथ हाँक रहा है। देवताके कन्धे अथवा खुली हथेली पर पद्म अंकित है। बहुधा वह अपनी पत्नियाँ प्रभा और छायाके साथ रहता है। मध्यकालमें भारतीय शैली पर सूर्य-प्रतिमाओंका निर्माण बहुतायतसे हुआ और पाल-कालमें इसमें प्रस्तर और धातु (जस्ता और ताँबा) दोनोंकी बनी असंख्य ऐसी मूर्तियाँ

---

१ विक्र०. ५.४। २ रघु०, ३.२२।

मिलती है। पुरी ज़िलेके कोणार्कका सूर्य-मन्दिर मध्य-युगका विस्मय है। कुमारगुप्तके[1] शासन-कालके एक विशेष शिला-लेखका विस्तृत विषय है कालिदासके बिलकुल समकालीन एक सूर्य-मन्दिरकी मरम्मत।

लोकपाल

लोकपाल आठ देवताओंका एक देववर्ग था जिसमें इन्द्र, कुबेर और वरुण भी शामिल थे, जो दिशाओंके रक्षक थे। राजवंशमें[2] सन्तानको जन्म देनेके लिए उनसे रानीके गर्भमें प्रवेश करनेकी आशा की जाती थी। ऐसा माना जाता था कि लोक-पालोंके[3] दिव्य प्रकाश प्राप्त कर एक राजाके शरीरके अवयव सञ्चित होते थे।

ब्रह्मा

कालिदासके ग्रन्थोंमें वर्णित प्रधान देवताओंमें एक ब्रह्मा है। वह विष्णु तथा शिवके साथ मिलकर प्रसिद्ध हिन्दू त्रिदेव, 'त्रिमूर्ति' का निर्माण करता है। उसको सम्बोधित नान्दी पाठमें कवि उसको परमतात्विक शक्तियोंसे युक्त करता है। वह स्वयम्भू,[4] चतुरानन,[5] वागीश[6] और चराचर[7] विश्वका प्रभव कहा जाता है क्योंकि उसने जलपर[8] बीज बोया था और वह प्रकृतिकी तीन अवस्थाओं—सर्ग, स्थिति और प्रलयका[9] कारण है। सृष्टिके[10] पूर्व उसमें, जो एक-मात्र अस्तित्वमें (केवलात्मा) था, सत्त्व, रज और तम ये त्रिगुण विद्यमान थे। उसने सृष्टि-रचनाके[11] लिए अपने शरीर के नर और नारी, दो भाग किये, ऐसा कहा जाता है। अत. वह माता-पिता (पितरौ) कहलाता है। वह दिनमें काम करता तथा रात्रिमें सोता है, और इस प्रकार सृष्टि तथा प्रलय उसके जागने

---

१ कुमारगुप्त और बन्धुवर्माका मन्दसोर शिला-लेख। २ रघु०, २.७५। ३ वही। ४ कुमा०, २.१। ५ चतुर्मुख वही, १७, धातारं सर्वतोमुखं वही, ३। ६ वही। ७ चराचरं विश्वं वही, ५। ८ अमोघं बीजं वही। ९ वही, ६। १० वही, ४। ११ स्त्रीपुंसावात्मभागौ वही, ७।

और सोनेके तुल्य है।[१] वह अज[२] है। उसका कारण कोई नहीं, अत
कारणरहित है, किन्तु वह सबका कारण है। स्वयं अकारण, वह जगत्का
कारण है, स्वयं अनन्त, वह विश्वका अन्त है। स्वयं अनादि, वह जगत्-
का आदि है और स्वयं प्रभु-रहित, वह सबका प्रभु[३] है। वह अपनेको
आप जानता है, वह अपनी रचना आप करता है, उसको अपनेसे प्रेरणा
मिलती है और अन्तमें वह अपने आपमें विलीन[४] हो जाता है। वह अपनी
इच्छाके अनुसार तरल और ठोस, स्थूल और सूक्ष्म, हलका और भारी
तथा प्रकट और अन्तर्ध्यान होता है।[५] वह उस वाणीका कारण है जिसका
आदि प्रणव है, यज्ञ जिसका कर्म है और स्वर्ग जिसका परिणाम[६] है।
वह पुरुषके नामसे जाना जाता है जो रागातीत परम श्रेष्ठ है, जो अपनी
उस प्रकृतिका साक्षी रूप ध्यान किया जाता है जो सारे विकासकी जननी
है।[७] वह पिताओंका पिता (पुरखा, पूर्वज), देवाधिदेव, सर्वातीत और
स्रष्टाओंका स्रष्टा[८] है। वह हवि और होता, भोज्य और भोक्ता, ज्ञान
और ज्ञाता तथा ध्येय और ध्याता दोनों है।[९] अत ब्रह्मा धाता,[१०] विधाता,[११]
वेधा,[१२] चतुर्मुख[१३] आदि नामोंसे पुकारा जाता है। इस प्रकार यहाँ
उपनिषदोंके ब्रह्मको कविने पौराणिक ब्रह्माका रूप दिया है। इस
नान्दीका विश्लेषण करने तथा इसकी घटनाओंको उनके यथार्थ साध्योंके
साथ रखनेका हमें अवसर मिलेगा। कालिदास हिन्दू भास्कर्य (संगतराशी)
की तरह पुराणोंके अनुकरणमें उसे सरस्वतीके पतिके रूपमें व्यवहृत करते
हैं। चार सिर (कालिदासका सर्वतोमुख[१४]) वाला और चार हाथोंमें
वेद, कमण्डलु, रुद्राक्ष और स्रुवा धारण किये, दाढी वाली बैठी आकृति
(कुछ में अकालीन सरस्वतीके साथ) के साथ ब्रह्माकी समष्टिगत प्रतिमाएँ

---

१ वही, ८। २ रघु०, ५.३६; कुमा०, ३.५। ३ कुमा०, २.६। ४ वही, १०। ५ वही, ११। ६ वही, १२। ७ वही, १३। ८ वही, १४। ९ वही, १५। १० वही, २.३। ११ वही, ७.४३। १२ रघु०, १.२६। १३ रघु०, २.१७। १४ वही, २.३।

अधिकतर भारतीय संग्रहालयोंमें देखी जा सकती हैं। विचित्रता यह है कि कविके उल्लेखोंमे कहीं भी ब्रह्माके मन्दिरका नाम नहीं आया है और न इस युगमे ही हमे रास्ते चलते वह दिखाई देता। जो कुछ ब्रह्माके मन्दिर ज्ञात है, वे है, पुष्करका पश्चात् मध्यकालीन मन्दिर और तुलनात्मक दृष्टिसे हालका बनारसका एक निर्विशेष देवालय। यदि ब्रह्माकी प्रतिमाएँ उन्हींके लिए बने मन्दिरोंमे प्रतिष्ठित न की गई तो इन प्रतिमाओंके, जिनका संख्या-बाहुल्य है, बनानेके उद्देश्यको समझना कठिन है। या यह सम्भव है कि कुछ मन्दिरोंमें, जैसा आज है, बहुतसे देवताओंकी प्रतिमाएँ एक साथ रहती हो और ऐसे सग्रहोंमे ब्रह्माकी प्रतिमाका विशिष्ट महत्त्व हो। अन्यथा, इस प्रकारकी प्रतिमाओंकी बहुलता और कालिदास-द्वारा दिये एक भी ब्रह्मा-मन्दिरके बिना देवताके अनन्त हवालेके बीच सगति लगाना कठिन होगा।

प्रजापति

कालिदासने प्रजापतिका एकीकरण ब्रह्मामे किया है। उनके पूर्वके साहित्यमे यह असगत नहीं है। अश्वलायन गृह्यसूत्र[1] दोनो देवताओंको एक मानता है। इस सम्बन्धमे कवि सूत्रका अनुगमन करता प्रतीत होता है। ब्राह्मण-साहित्यमे प्रजापतिको सर्वोच्च स्थान प्राप्त था ही। उसने ब्रह्माके विशेषण भी ग्रहण कर लिये थे। शतपथ[2] और तैत्तिरीय[3] ब्राह्मणोंके अनुसार वह सभी देवताओंका पिता है। शतपथ उसे आदिमें[4] अकेला विद्यमान मानता है। इससे भी पूर्व ऋग्वेदमे उसके लिए एक मत्र[5] आया है जिसमे वह सभी साँस लेनेवाले और गतिमान प्राणियोंका अधिपति कहा जाता है, वह दोनोंका देव है जिसका आदेश सभी पालन करते है, वह आकाशमे व्याप्त है और वह सारे विश्वको अपनी भुजाओंसे आलिंगन करता है।

---

१ ३.४। २ ११·१, १६, १४। ३ ८.१, ३, ४। ४ S.B ३.४, १। ५ १०.१२१।

विष्णु

ऋग्वेदका सूर्यदेव विष्णु पौराणिक देव-समुदायमें फिर उत्पन्न हुआ है और उसे नया ऐश्वर्य तथा असीम शक्ति मिली है। उसे नये नाम दिये जाते हैं यथा, हरि,[1] पुरुषोत्तम,[2] त्रिविक्रम,[3] पुण्डरीकाक्ष,[4] पुराण,[5] कवि,[6] चतुर्मूर्ति,[7] पुरुष,[8] परमेष्ठिन्,[9] शार्ङ्गी,[10] महावराह,[11] अच्युत,[12] बलनिषूदन,[13] चक्रधर,[14] भगवान्,[15] कृष्ण।[16] विष्णु ऋग्वेदमें सूर्य है जो सूर्यके सदृश तीन डग (विक्रम) लेकर भू-स्थल[17] को पार करता है। वहाँ उनका आयुध सूर्याकृतिका[18] गोल गतिशील चक्का है जो पीछे चक्र बन गया। उसके वाहनों गरुत्मद और सुपर्णके भी उल्लेख हैं। वामनावतारमें तीन डगोंमें तीन लोकोंको माप कर विष्णु-द्वारा पृथ्वीको प्राप्त करने की बादकी पौराणिक धारणा इस प्रकार उक्त ऋग्वेदीय संकेतसे आभासित है। ऋग्वेदमें सूर्य देव होनेसे विष्णुका निम्न पद ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठतामें परिणत हो जाता है जहाँ वह वामनका रूप धारण करता है और तीन डगोंमें[19] पृथ्वीको असुरोंसे छुडा लेता है। स्पष्ट ही पुराणका अनुसरण करनेवाले कालिदासका विष्णु पश्चात्‌के हिन्दू देवतावर्गके प्रसिद्धतम देवताओंमेंसे है और आज शिवको छोड, वही परम देव है जिसके एक या दूसरे अवतारकी हिन्दू पूजा करते हैं। कालिदासकी रचनामें विष्णुकी स्तुतिमें आये नान्दी-पाठका विश्लेषण करनेसे हमें उसके जो रूप, गुण और कर्म बोधगम्य होते हैं वे हैं, 'सहस्रफणवाले'[20] शेषकी शय्यापर

---

१ रघु०, ३.४६। २ वही। ३ वही, ७.३५। ४ वही, १८.६, १०.६। ५ वही, १०, १६, ३६। ६ वही, ३६। ७ वही, २२। ८ वही, ६, ११, ८५। ९ वही, १०.३३ ११.८६। १० वही, १२, ७०; मेघ० पू०, ४६, उ०, ४७। ११ रघु०, ७.५६। १२ वही, ४.२७। १३ वही, ९.३। १४ वही, १६.५५। १५ वही, १०.३५। १६ वही, ६.४६। १७ ७ ६६, २। १८ मिलाकर ५.६३, ४। १९ जे० आर० ए० एस०, २७, १८८-८९। २० रघु०, १०.७। शब्दविग्रह (Idol) का यहाँ प्रयोग हुआ है।

विष्णु लेटे हुए हैं, पद्म[1] पर बैठी लक्ष्मीके अंकमें उनके पैर हैं और उनके कटि-प्रदेशमें पीताम्बर[2] सुशोभित है। उनकी छाती पर कौस्तुभ[3] मणि राजता है और स्वामिभक्त गरुड़[4] उनकी सेवामें निरत है। वह मन और वाणीकी पहुँचके बाहर है।[5] आदिमें जगत्का स्रष्टा, फिर उसका पालक और अन्तमें उसका संहारक[6] होनेसे विष्णु तीन-तरह शरीर वाला है। जिस प्रकार वृष्टिका जल मूलत. एक-रस होता हुआ भिन्न-भिन्न भूमियोंमें बहु-विध स्वादका हो जाता है उसी प्रकार परिवर्त्तन-रहित वह सत्त्व, रज और तमके[7] विविध गुणोंसे मिलकर भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ धारण करता है। स्वय अमाप्य उसने सारे लोकोंको माप लिया है, स्वय कामना-हीन वह सबकी कामनाओंको पूरा करता है, स्वय अजेय उसने सब पर विजय प्राप्त की है, स्वय अगोचर वह सारे दृश्य जगत्का कारण है।[8] ऋषि घोषणा करते हैं कि वह हृदयमें निवास करता हुआ भी निकट नहीं है, निष्काम होते हुए भी तप.शील है, दयालु है किन्तु दु ख उसे छू तक नहीं जाता, पुराण होकर भी[9] नाश-रहित है। यद्यपि वह सर्वज्ञ है तथापि वह स्वयं अज्ञात है, यद्यपि वह सबका आदि स्रोत है तथापि वह स्वयम्भू है, यद्यपि सबका स्वामी है तथापि उससे बढकर कोई नहीं और यद्यपि वह एक अक्षर है तथापि वह सभी आकारोंको धारण[10] करता है; सप्त-सागरके जल-तरंगों पर शयन करता हुआ वह सप्तलोकोंका परम आश्रय है, सात सामों द्वारा वह गाया गया है और उसके मुखके लिए सप्ताग्नि[11] प्रज्वलित है। उसके चार मुखोंसे निकले हैं, जीवनके चार उद्देश्योंका ज्ञापक ज्ञान, चार चक्रोंमें काल-व्यवस्था तथा चतुर्वर्ण।[12] अभ्यासके द्वारा मनको बाह्य वस्तुओंसे रोककर योगी मुक्तिके लिए उसका अन्वेषण करते

---

१ वही, ८। २ वही। ३ वही, ६.४९, १०.१०। ४ वही, १०.१३। ५ वही, १५। ६ वही, १६। ७ वही, १७। ८ वही, १८। ९ वही, १९। १० वही, २०। ११ वही, २१। १२ वही, २२।

है और वह आलोकमय उनके हृदयमे[1] निवास करता है। अजन्मा वह जन्म लेता है, निष्कर्म, वह शत्रुका संहार करता है, और निद्रागत, वह प्रहरीका[2] काम करता है। शब्द आदि इन्द्रियोंके विषयोंका भोक्ता होने के योग्य होता हुआ भी वह कठोर तपस्वीका आचरण करता है, लोक-पालनके योग्य होकर भी वह नितान्त निरपेक्ष[3] रहता है। परमानन्द-प्राप्तिके मार्ग धर्मग्रन्थोंमें यद्यपि विविध और अनेक है सब उसीमे आ मिलते है।[4] जिनके सासारिक भोगकी कामनाएँ विलकुल नष्ट हो गई है और जिन्होने अपना हृदय उसमें लगा दिया है एव कर्मोंको उसपर अर्पित किया है, उनके लिए वही पापोसे मुक्ति पानेकी शरण है।[5] पृथ्वी तथा दूसरे तत्त्वोंमें छिपी हुई उसकी महानता यद्यपि इन्द्रिय-ग्राह्य है तथापि वर्णनातीत है। वह तर्क और वेदोसे[6] सिद्ध होनेवाला है। क्योंकि स्मरण मात्रसे वह मनुष्यको पवित्र बना देता है, इस कार्यसे स्मरण करने वालेके इन्द्रिय की शेष क्रियाएँ अपने प्रभाव प्रकट कर देती है।[7] उसकी रहस्यमयी प्रकृति प्रशसासे[8] परे है। कोई वस्तु उसके लिए अनधिगम्य नही है। लोगो पर अपनी दया दर्शानेके लिए वह अवतार लेनेकी कृपा करता है और मनुष्यके सदृश आचरण भी।[9] वह आदि कवि[10] है (पुराणस्य कवि), शरीरधारी प्राणियोंके आरम्भिक तथा मध्यम (सत्व और रज) गुण तीसरे गुण तमस्से[11] पराभूत कर दिये जाते है। फिर उसका वर्णन आता है कि उसको दशरथकी पत्नियोने स्वप्नमें देखा। उनकी रक्षा शख, असि, गदा, सारग धनु और चक्र[12] लिये बौने कर रहे थे। गरुड उन्हे आकाशमे लिये जा रहा था जिसके सुनहले पक्षोकी घनीभूत आभा चतुर्दिक् विकीर्ण हो रही थी और जिसके प्रबल वेगसे बादल छिन्न[13]-भिन्न हो रहे थे। विष्णु

१ वही, २३। २ वही, २४। ३ वही, २५। ४ वही, २६। ५ वही, २७। ६ वही, २८। ७ वही, २९। ८ वही, ३०। ९ वही, ३१। १० वही, ३६। ११ वही, ३८। १२ वही, ६०। १३ वही, ६१।

आगे चलकर लक्ष्मीसे सेव्यमान वर्णन किया जाता है जिसके हाथमें कमल है और जिसने स्तन-युग्मके[1] मध्यमें लहकते हुए कौस्तुभ मणि पहन रखा है। उसकी उपासना सप्तर्षि करते हैं जिन्होंने दिव्य त्रिपथगा गंगामें स्नान किया था और जो वेद[2]-मन्त्रोंका उच्चारण कर रहे हैं। उसके चार भुजाएँ[3] हैं। हिमालय, अचल रूपमें विष्णु[4] कहा गया है। विश्वको ब्रह्म माननेवाले विष्णुका एकीकरण सब पदार्थोंके सर्वोच्च नमूनेसे करते हैं और परिणामतः सब पर्वतोंसे उच्च हिमालयके साथ। ऐसा कहा जाता है कि हरिने किसी निश्चित समयमें जब उन्होंने तीन डगमें सारी पृथ्वी ले ली तो उसी समय केवल उनकी महिमा ऊपर-नीचे और तिरछी दिशाओंमें फैली, किन्तु उसकी महिमा सदा रहनेवाली है—वह अनादि-कालसे फैला हुआ[5] है। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है, यह संकेत विष्णुके वामनावतारका है। वह अणिमा आदि (अणिमादिगुणोपेतम्) आठ गुणोंसे युक्त है जिनके द्वारा वह अपने शरीरको छोटा या बड़ा बना सकता है।[6]

कालिदासने नारायणको विष्णु[7] माना है। "नरके मित्र मुनि नारायणकी जाँघसे उत्पन्न उर्वशी जब कैलासपतिकी परिचर्या समाप्त कर लौट रही थी, देवताओंके शत्रु राक्षसों-द्वारा रास्तेमें बन्दी कर ली गई है।"[8] इस प्रसंगके

नारायण

नर और नारायण दो प्राचीन ऋषि हैं। नरके लिए दो स्तोत्र[9] और नारायणके लिए ऋग्वेदका प्रसिद्ध पुरुषसूक्त[10] कहा गया है। किन्तु पश्चात्कालीन साहित्यमें साधारणतः वे एक साथ 'ऋषिसत्तम', तापस और 'देवौ पूर्वदेवौ' के रूपमें आते हैं। कभी-कभी नारायणको देवता और नरको सर्वाधिक बुद्धिमान् पुरुषका चित्रण हुआ है। बादमें नरका

१ वही, ६२। २ वही; ६३। ३ वही, ८६। ४ कुमा०, ६.६७। ५ वही, ६.७१। ६ वही, ७७। ७ विक्र०,१.३। ८ वही। ९ ६.३५, ६.३६। १० १०,८०।

एकीकरण अर्जुनसे हुआ और नारायणका वासुदेव कृष्णसे और इस रूपमें वे द्विवचनान्त देवता बन गये। भास्कर्य कलामें उनका आकृतिकरण कम मिलनेवाला नहीं है। उर्वशी, जिसको ऊपरके हवालेमें नारायणकी जाँघसे उत्पन्न कहा गया है, अपने पिताके मध्यलोक (पितुः[1]) आकाशमें उड जाती है जिसका इस प्रकार विष्णुके साथ एकीकरण हो जाता है जिसका मध्यम लोक, जैसा वामनके दूसरे डग तथा सूर्यके प्रगमनसे प्रकट होता है, आकाश है। एक दूसरे स्थल पर भी आकाश विष्णुलोकके रूपमें निर्दिष्ट हुआ है जहाँ कालिदास इसको 'आत्मनः पदम्'[2] (विष्णुका पद) कथित करते हैं। क्योंकि विष्णु उपर्युक्त प्रकार आरम्भमें केवल सूर्य-देव है आकाश उनका लोक बन जाता है, कारण, आकाशमें होकर जानेवाले सूर्यका प्रगमन मध्यम पद कहा जाता है।

त्रिविक्रम

कालान्तरमें स्वतन्त्र देवताका पद प्राप्त करनेवाले विष्णुने प्रकृतितया उन सभी काव्यात्मक धारणाओंको अपने साथ रखा जो उनको उन समय प्राप्त हुई थी जब वह केवल सूर्य-देवताका एक विग्रह-मात्र माना जाता था। अतः वह कहलाया 'त्रिविक्रम', यानी 'तीन डगवाला' या 'त्रिशक्ति' जो गुण सूर्यके लिए प्रयोगमें आता है। इस प्रकार फिर प्राचीन ऋषि नारायणके विष्णु के साथ एकीकृत होने पर विष्णुकी सारी महिमा और काव्यमयी धारणाएँ उसके साथ जा लगीं"।

महावराह, भग० राम, वासुदेव कृष्ण

वराह या महावराह,[3] भगवान्![4] राम,[5] वासुदेव-कृष्ण[6] सभी का एकीकरण विष्णुके साथ किया गया है। महावराह, राम और वासुदेव कृष्ण सभी विष्णुके लोक-प्रसिद्ध अवतार थे जिनमें पहलेने दानवोंके हाथसे पृथ्वीका उद्धार किया, दूसरेने

---

१ पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती विक्र०, अंक, १। २ रघु०, १३.१ ३ वही, ७ ५६। ४ वही, १०.३५। ५ वही, ११, १५। ६ माल० ५.२; रघु०, ६.४६, गोपवेषस्य विष्णोः मेघ० पू० १५।

रावणको मारा और अन्तिमने क्रूर कंसके पंजेसे जनताको त्राण दिया। कृष्णको पहननेके[1] लिए विष्णुको कौस्तुभ मणि दी जाती है और एक प्रकरणमें उनका गोपाल नाम आता है जहाँ कालिदास इन्द्रचापके एक खण्डसे सुशोभित मेघकी उपमा चमकते हुए मोर-पखसे भूषित गोपालके रूपमे विष्णुसे देते है। नारायण जो ब्राह्मण-कालमे विकासमान हो परमात्मा बन गया था आगे चलकर वासुदेव[2] बन गया।

भागवत-धर्मके प्रतिपादक वैष्णव सम्प्रदाय और कालिदास-द्वारा उल्लिखित वैष्णव धर्मके विकास पर एक दृष्टि डालना असंगत नही होगा। वासुदेवकी उपासनाके प्रचलनके साथ वैष्णव-सम्प्रदाय कम सेकम पाणिनिके[3] अष्टाध्यायीके जितना पुराना है। ग्रीक-बैक्ट्रियन राजा अन्तिमालका दास, जिसका नाम हेलियोडोरस था, अपनेको भागवत कहता है, यानी भागवत धर्मका अनुयायी—यह उसके वासुदेवके सम्मानमे दूसरी शताब्दी ई० पू०[4] वेसनगरमे खडा किये गये गरुड़धारी स्तम्भके सकल्प-लेखमें अंकित है। पश्चात् कुशाणोंके कालमें ही वासुदेव-कृष्णके सम्बन्धकी अधिकाश पौराणिक कहानियोंने अपनी रूप-रेखा पायी और मथुरा संग्रहालयमें हमें एक प्रस्तर पट मिलता है जिसपर कृष्णके पिता वसुदेवकी उस अवस्थाका दृश्य उत्कीर्ण है जब वह कसके क्रोधसे सुरक्षित रखनेके लिए नवजात शिशुको लेकर गोकुल जाता हुआ यमुनाको पार कर रहा है। स्वय कालिदास गोपाल-कृष्णका[5] उल्लेख करते है जिसमें वे उसको गोपके रूपमे विष्णु कहते है। वह उसके मोर-पखोका[6] ज़िक्र करते है और उसके

---

१ रघु०, ६.४९, १०.१०; मेघ० पू०, १५। २ वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, सर आर० जी० भण्डारकर पृ० ४५। ३ वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ४.३, ९८। ४ लडेर्स, लिस्ट आफ ब्राह्मी इन्स०, न० ६। ५ मेघ० पू०, १५, पूर्वका पाठ उल्लेख। ६ वहींणेव वही।

दूसरे सहचर उसके भाई बलराम (लांगली)[1] और पत्नी रुक्मिणीके[2] भी नाम लेते हैं। कृष्णसे सम्बन्धित कालिय तथा कौस्तुभके संकेत[3] भी हैं। यद्यपि यह स्मरण रखा जा सकता है कि इन्दुमतीके स्वयंवरके[4] प्रकरणमें कृष्णका प्रसंग घुमाकर लाते हुए कवि काल-निर्णयके दोषके पंजेमें पड़नेसे अपनेको नहीं बचाता। यह विशेषता है कि कालिदास-द्वारा राधाका उल्लेख नहीं मिलता। सम्भव है, कृष्णके राधा-प्रेमकी कहानियाँ अभी गढ़ी जा रही हों। यह महत्त्वका है कि साम्राज्यवादी गुप्त अपनेको परमभागवत[5] (परमवैष्णव) कहते हैं। इस तथ्यमें कोई सन्देह नहीं कि जिस युगमें कवि रहा और उसने रचनाएँ कीं वैष्णव धर्म एक प्रमुख सम्प्रदाय था। द्वितीय[6] चन्द्रगुप्त, कुमारगुप्त[7] और स्कन्दगुप्तकी[8] मुद्राओं पर 'परम भागवत' वाक्यांशके अंकित होनेसे शिला-लेखोंमें उनकी वैष्णव-शैलीके अतिरिक्त उनका भागवत या वासुदेवका उपासक होना भी प्रमाणित होता है। गुप्त-कालके ऐसे अनेक संकल्प-लेख और भास्कर्य-कर्म हैं जो उसी निष्कर्षकी ओर संकेत करते हैं। उदयगिरिमें एक पट पर उत्कीर्ण (विष्णुकी) एक चतुर्भुजी मूर्ति गुप्त संवत् ८२ अर्थात् ४०० ई० पू० की है। मध्यभारतकी उदयगिरि गुफामें द्वितीय चन्द्रगुप्तके, शासन-कालकी नारीके रूपमें पृथ्वीका उद्धार करने और उसको अपने थूथने पर उठाते हुए एक विशालकाय महावराह (विष्णुका एक अवतार) की मूर्ति देखी जा सकती है। उनके वाक्यांश 'भुवा, महावराह दंष्ट्रायाविश्रान्त.'[10] में निहित कविके भावका, यह सुन्दर उत्तर है। चन्द्र (द्वितीय चन्द्रगुप्त)

---

१ वही, ४९। २ विष्णो. च रुक्मिणी माल०, ५.२। ३ रघु०, ६ ४९। ४ वही। ५ चन्द्रगुप्तका गध्व शिला-लेख (दोनों प्रथम और द्वितीय भाग); वही, कुमारगुप्तका; दूसरा भी वही, गध्व पर; स्कन्दगुप्तका विहार शिला स्तम्भ-लेख, दूसरा भाग आदि। ६ एलन : गुप्त क्वायन्स, पृ० ११४। ७ वही, पृ० ११५, १२०। ८ वही, पृ० १२१, १२२। ९ C. I. I. भाग ३, पृ० २२। १० १ कुमा०, ६ ८।

के मेहरोली लौहस्तम्भ पर उत्कीर्ण लेखस्तम्भको विष्णुका ध्वज-दण्ड[1] कहता है। भीदपुर भीतरीमें स्कन्दगुप्तका महान् प्रस्तर स्तम्भ शार्ङ्गी,[2] यानी वासुदेव-कृष्णकी प्रतिमाकी स्थापनाका उल्लेख करता है। यह लिखा जायगा कि कालिदास भी विष्णुको शार्ङ्गिन्[3] नाम देते हैं। सौराष्ट्र मे स्कन्दगुप्तके राजप्रतिनिधि चक्रपालित-द्वारा विष्णु-मन्दिरके निर्माणका उल्लेख करता हुआ शिला-लेख विष्णुके वामनावतारकी प्रशस्तिसे आरम्भ होता है। जोधपुरके समीपवर्ती मन्दोरके पाँचवी शताब्दीका स्तम्भ कृष्ण-के शकट उलटने और गोवर्धनको उठाने जैसी कृष्ण-कथाओंके दृश्योंका चित्रण करता है। एरानके सन् ४८३ ई० के एक शिला-लेखमें अत्यन्त भगवद्भक्त भाई मातृविष्णु तथा धन्यविष्णुके जनार्दनकी[4] प्रतिष्ठामें एक ध्वजस्तम्भ खड़ा करनेका उल्लेख है। बघेलखण्डमें खोहके पास ४९५ ई० का एक ताम्रपत्र-लेख प्राप्त हुआ है जिसका मुख्य विषय है भागवत के मन्दिरकी मरम्मत और व्यवस्थाके लिए जयनाथका एक ग्राम-दान। चालुक्य[5] वंशीय मंगलीशके शकाब्द ५०० में बनाये एक गुफामें विष्णु और एक सर्पपर नारायण जिनके तलवे लक्ष्मी सहला रही है और उनके अवतार वराह तथा नरसिंह[6] की आकृतियाँ बनी हुई हैं। वराहमिहिरने जिसकी मृत्यु शकाब्द ५०९ में हुई, भागवतोंको विष्णु[7] के विशिष्ट उपासक लिखा है। एल्लोराके दशावतार मन्दिरमें शेषशायी भगवान् विष्णु और उनके अवतारोंकी विशाल प्रतिमाएँ है। इस प्रकार कालिदासके पूर्व और पश्चात् वैष्णव सम्प्रदाय उपासनाका एक प्रगतिशील रूप था। जैसा कि उक्त गुप्त-शिला-लेखों और उनके अपने ग्रन्थोंमें दिये गये इनके हवालो से निष्कर्ष निकाला जा सकता है उनके कालमें ही इस सम्प्रदायने बड़ी उन्नति की थी। विष्णु, ब्रह्मा और शिवके साथ मिलकर त्रिमूर्ति बनाते हैं।

---

१ विष्णोर्ध्वजः ५.३। २ श्लोक १०। ३ रघु०, १२.७०; मेघ० पू०, ४६, उ०, ४७ आदि। ४ जनार्दनस्य ध्वजः। ५ फर्गुसन और बर्गेस, केभ टेम्पल्स, पृ० ४०७। ६ वही। ७ बृहत्संहिता, ६०, १९।

शिव

हिन्दू त्रिमूर्तिमें ब्रह्मा और विष्णुके साथ शिव आता है। वह कालिदास को प्रिय है जिसकी स्तुति वे अपने ग्रन्थोंके आरम्भमें करते हैं। इससे और बार-बार शिवका संकेत करनेसे यह प्रतीत होगा कि कवि स्वयं शिवका उपासक और शैव धर्मका अनुयायी था। किन्तु यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिए कि कालिदास कभी भी साम्प्रदायिक नहीं थे। सच तो यह है कि ब्रह्मा और विष्णुकी उनकी स्तुति तथा प्रार्थनाके शब्द ऐसे भक्तिपूर्ण हैं कि यह कहा जा सकता है कि वे विष्णुके भक्त या ब्रह्माके उपासकसे अधिक शैव नहीं थे। धार्मिक विश्वासों पर विवेचन करते समय वे पूरे उदार हैं और शैवेतर सम्प्रदायोंका जिक्र भी पूरे सम्मानके साथ करते हैं।

कालिदासके दिये वर्णनसे हम सरलतासे इस परिणाम पर आ सकते हैं कि शिव परम देव समझे जाते थे। अभिधाएँ और विशेषण जो उनके लिए कहे गये हैं उनसे उनका सर्वशक्तिमान् होना अभिव्यक्त होता है। वे हैं—ईश,[1] ईश्वर,[2] महेश्वर,[3] परमेश्वर,[4] अष्टमूर्ति,[5] वृषभध्वज,[6] शूलभृत,[7] पशुपति,[8] त्र्यम्बक,[9] त्रिनेत्र, अयुग्मनेत्र, स्थाणु,[10] नीललोहित,[11] नील-कण्ठ,[12] शितिकण्ठ, विश्वेश्वर,[13] चण्डेश्वर,[14] महाकाल,[15] शम्भु,[16] हर,[17] गिरीश,[18] भूतेश्वर,[19] भूतनाथ,[20] शंकर,[21] शिव,[22] पिनाकी[23] आदि।

---

१ माल०, १.१ । २ विक्र०, १.१, ४ ६५; कुमा०, ६ ७६ । ३ रघु०, ३.४९ । ४ वही, १.१; २.३९ । ५ वही, २ ३५; कुमा०, १.५७ । ६ रघु०, २ ३६, ३.२३ । ७ वही, ३८; कुमा०, ६ ९४, ७ ४० आदि । ८ कुमा०, ६ ९५, मेघ० पू०, ३६ । ९ रघु०, २.४२, ३ ४९ आदि । १० कुमा०, ३ १७, विक्र०, १.१ । ११ कुमा०, २.५७ । १२ वही, ७ ५१ । १३ रघु०, १८.२४ । १४ मेघ० पू० ३३ । १५ वही, ३४ । १६ वही, ६० । १७ कुमा०, ७ ४४; रघु०, ४.३२ आदि । १८ रघु०, २.४१, १६ ५१ आदि । १९ वही, २.४६ । २० वही, ५८ । २१ मेघ० पू०, ३३–३६ । २२ कुमा०, ५ ७७ । २३ वही ।

बहु-सख्यक मन्दिर शिवको समर्पित थे जिनमें उज्जयिनीके[1] महाकाल नामक ज्योतिर्लिङ्ग, दूसरा बनारसके विश्वेश्वर[2] या विश्वनाथ और तीसरा गोकर्णके मन्दिरका कालिदास उल्लेख करते हैं। शिव पंचतत्त्व, मन, अहंकार तथा स्थूल पदार्थसे[3] समानता रखनेवाला आठ रूपोंके धारण करनेवाले जैसे वर्णित हुए हैं। जो कुछ सृष्टिमे है और जो कुछ उसका कारण है वह सब शिव हैं ऐसे विश्वरूप शिवकी उपासना करने वाले विश्वास करते हैं कि उनके देवता (अष्टमूर्ति)[4] रुद्रके आठ भिन्न-भिन्न व्यक्त रूप थे और इनकी दृश्य आकृतियोमें आठ प्रकार थे, यानी, द्र, भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भूम, उग्र और महादेव। यह उल्लेख करना रोचक होगा कि वाजसनेयी[5] संहितामे अग्नि, अशनि आदिके साथ इन सभी देवताओ का एक ही देवके विभिन्न रूप कहकर परिगणन हुआ है। शतपथ[6] तथा सांख्यायन[7] ब्राह्मणोमे उनको अग्निके भिन्न-भिन्न आठ रूप कहा गया है। शाकुन्तलके गिनाये आठ रूप हैं—जल, अग्नि, पुरोधा, रवि, शशि, आकाश, पृथ्वी और वायु।[8] शाकुन्तल शिवका उल्लेख ईश, परमेश्वर[9] की उपाधिसे करता है। संहारका[10] अध्यक्ष होता हुआ वह सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा तथा सृष्टि-रक्षक विष्णुके साथ रखा जाता है। यहाँ कालिदास शिवकी स्तुतिके साथ जिसका एक विशाल मन्दिर उज्जैनमें था नाटकका आरम्भ और अन्त कर अपने साथी नगरवासियोंके धार्मिक पक्षपातके भावोका उल्लेख करते हैं। समुद्र-मथन पर उसके कालकूट विषका पान करनेका सकेत आया है जिससे उसकी गर्दन नीलवर्णकी हो गयी जिसके परिणामस्वरूप उसके नीलकण्ठ, शितिकण्ठ और नीललोहित के नाम पड़े हैं। पौराणिक वृत्तोमें वह भूत-प्रेतोंके साथ श्मशानमें क्रीड़ा

---

१ रघु०, ६.३४; मेघ० पू० ३४। २ रघु० १८.२४। ३ शाकु०, १.१; रघु०, २.३५; माल०, १.१। ४ वही। ५ ३९.८। ६ ६.१, ३.७। ७ ६.१। ८ १.१। ९ १.१ मिलाकर; १.१; V. I. S १.१, ४.६५; कुमा०, ६.७६। १० रघु०, २.४४; कुमा०, २.७७ आदि।

करते कहा गया है, इनका उल्लेख कालिदास[1] करते हैं। शिवकी स्तुतिमें कहे गये निम्नलिखित श्लोकसे उसके प्रभूत गुणोंका निर्देश मिलता है —

"शिव आपका कल्याण करे !

जो मनुष्यको आठ रूपोंमें दृष्टिगोचर होता है—
जलके रूपमें जो ब्रह्माकी सृष्टिमें सर्वप्रथम है,
अग्निके रूपमें जो विधिपूर्वक हुत सामग्रीको ग्रहण करता है,
होताके रूपमें जो यज्ञ कर्मोंका सम्पादक है,
सूर्य और चन्द्रके रूपमें जो दिन-रातका नियामक है,
आकाशके रूपमें जो विश्वमें व्याप्त और शब्द गुणवाला है,
पृथ्वीके रूपमें जो उत्पत्तिका स्थल है,
वायुके रूपमें जो सभी साँस लेनेवालोंका जीवनदाता है।[2]"

शिव सभी सजीव तथा निर्जीव पदार्थों के सर्जन, पालन तथा संहारका कारण कहा गया है (स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतु)[3]। सर्ग-स्थितिके कारण होनेका गुण शिवको उस प्रथाके अनुकरणमें दिया गया है जिसके अनुसार एक उपासक अपने उपास्य देवकी स्तुति-प्रार्थना करता है चाहे वह उसके धार्मिक देवोंकी मण्डलीमें कितना भी छोटा क्यों न हो। शिवका यथार्थ कार्य है, तीनोंमें अन्तिम—'प्रत्यवहार' अर्थात् जगत्‌का प्रलय। उसकी मूर्ति जलमें[4] व्याप्त कही जाती है। यह इस तथ्यका भी द्योतक है कि प्रलयके अन्तमें जब शिवका प्रभाव होता है, पृथ्वी जल-मग्न हो जाती है। यह विश्वका रूप (विश्वमूर्तिः)[5] है। वह ईश्वर कहलाता है, अणिमादि सिद्धियों वाला है और उसके ललाट पर[6] द्वितीयाका चन्द्रमा विराजता है। वह विश्वको[7] धारण करता है। योगी उसका[8]

१ विकीर्णदेशेषु कुमा०, ५.६८। २ शाकु०, १.१। ३ रघु०, २.४४। ४ कुमा०, २.६०। ५ वही, ५.७८, ७८-८१। ६ वही, ६.७५, ७.३२; विक्र०, ४.६५ आदि। ७ ध्रियते विश्वं कुमा०, ६.७६। ८ वही, ७७।

ध्यान करते है। इस विश्वमें[1] जो कर्म किये जाते है उनका वह 'साक्षी' हैं। सभी लोकपाल इन्द्रके नेतृत्वमे उसके[2] सामने नतमस्तक होते हैं। एक श्लोक कहता है :—

"वेदान्तोमें जिसको परम पुरुष कहते है, जो पृथ्वी और आकाशमें व्याप्त होने पर भी प्रथम बना रहता है, जिसके लिए ईश्वर (शासक) शब्द अक्षरश: उपयुक्त है क्योकि किसी दूसरेको यह नाम नही दिया जा सकता, जिसको वे मोक्षार्थी अपने हृदयमे खोजते है जो प्राणादि पंचवायु को साधकर प्राणायाम-परायण होते हैं, वह दृढ़ भक्ति और ध्यानमे सहज प्राप्य आदिपुरुष आपको नि.श्रेयस प्रदान करे।"[3] उक्त पद्यमें प्रयुक्त वाक्यांश 'व्याप्य स्थितं रोदसी' उसको इतना महान् बना देता है कि पृथ्वी और आकाश मिलकर भी उसके विस्तारके समाने के लिए पर्याप्त नही। ऋग्वेदके प्रसिद्ध पुरुपसूक्तमें यह भाव व्यक्त किया जा चुका है, जिसमें यह देवता पृथ्वीको चारों ओरसे घेरे रहने पर भी उससे परे कहा गया है, जो अव्याप्य और दश अगुल[4] प्रमाणका है।

अकेला और उसकी अर्द्धांगिनी पार्वतीके साथ शिवकी असंख्य प्रतिमाएँ मिलती है। वे गुप्त-कालमें बिलकुल सामान्य थी जब उसकी प्रतिमा और शिव-लिंग दोनोंकी पूजा होती थी।

उसका स्वरूप

उसकी मूर्तियोमेंसे बहुत-सी जिनमें मुख नही है लिंग-शिखासे लटकती हुई जटाओ वाली है। मथुरामे आज भी ऐसी अनेकोकी पूजा होती है। कुमारसम्भवके शिवके विवाह के प्रकरणमे कालिदास-द्वारा दिये गये वर्णनमे शिवकी मूर्तिका पूर्ण चित्रण किया गया है। सर्वांगमें भस्म लपेटे हैं[5] और द्वितीयाका चन्द्र ललाट पर तिलकका काम करता है[6]। वह हाथीका चर्म[7] (गजाजिन) पहनता

१ साक्षी विश्वस्य कर्मणाम् वही, ७८। २ वही, ७.४५। ३ विक्र०, १.१। ४ स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम् १०.९०.१। ५ ७.३२। ६ वही, ३३; विक्र०, ५.६५। ७ वही, मेघ० पू०, ३ माल९;०, १.१ (कृत्तिवासाः)

है। अथर्ववेदमें[1] शिवका यह निवास रुद्र (उसका पूर्वका प्रतिनिधि) का भी कहा गया है। वहाँ रुद्र हस्ति-चर्म (कृत्तिवसानम्—शत-ग्रीय) पहने हुए हैं। वह आभूषणोंके[2] लिए अपने अंगोंमें सर्पोंका व्यवहार करता है। तलवार[3] लिये उसके प्रसन्न गण, ब्रह्मा और विष्णु[4] जैसे देवता और चामरधारिणी[5] गंगा और यमुना जैसी देवियाँ उनकी सेवामें उपस्थित रहते हैं। वह अपनी वृषभकी[6] सवारी पर बैठता है जिसकी पीठपर बाघाम्बर[7] बिछा होता है। छोटी-छोटी घंटियों[8] वाली दुमहली गर्दनी पहने उसके नन्दीका मार्ग आकाशसे[9] होकर जाता है। इस चित्रके बहुसंख्यक नमूने भास्कर्य कलामें प्रकट हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि शिवके एक गण नन्दी और शिवके वाहन वृषभ नन्दीके बीच कवि भिन्नता करता है।[10]

यहाँ हम शैव सम्प्रदायके पाशुपत धर्मका हवाला दें तो लाभप्रद ही होगा जिसका महत्त्वका स्थान ईस्वी सन्‌की आरम्भिक शताब्दियोंमें था, जो साम्राज्यवादी गुप्तोंके दिनोंमें शैव सम्प्रदायका शासक धर्म था और सम्भवतः कालिदास जिसके एक अनुयायी थे। अपनी शिवकी अभिधाओंसे कवि अप्रत्यक्ष रूपसे इस धर्मकी ओर संकेत करता है—पशुपति,[11] भूतनाथ,[12] भूतेश्वर[13] आदि। यहाँ हम स्पष्ट शब्दोंमें इस धर्म तथा शताब्दियोंके इसके विकासका उल्लेख कर सकते हैं। पशुपति पद्धतिके तीन सिद्धान्त हैं—पति, पशु और पाश[14]। इस समस्त पद्धतिके चार पाद (भाग) हैं,

पाशुपत धर्म

१ ११.२.१। २ कुमा०, ७ ३४। ३ वही, ३६। ४ वही, ४३। ५ वही, ४२। ६ वही, ३७,४६। ७ कुमा०, ७.३७। ८ वही, ४६। ९ खे खेलगामी, वही। १० कुमा०, ७ ३७, ३.४१। ११ वही, ६ ६५; मेघ० पू०, ३६। १२ रघु०, २.५८। १३ वही, ४६। १४ भण्डारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म आदि, पृ० १७७।

जो है, विद्या, क्रिया, योग और कार्य[1]। रुद्रको ऋग्वेदमें[2] पशुपकी सज्ञा मिल चुकी है। अथर्ववेदमे भव और शर्वको भूपति और पशुपतिके नाम मिले है और पशुपतिके[3] शासनसे रहनेवाले है पाच प्रकारके विशिष्ट जीव, गो, अश्व, नर, अज और मेष। महाभारतमें[4] पाशुपत पाँच धार्मिक सिद्धान्तोमेंसे एक है। विकटसे विकट शत्रुओका[5] नाश करनेकी शक्ति रखनेवाले पाशुपतास्त्रको प्राप्त करनेकी आकांक्षा अर्जुनको ही रही है। कालिदास कहते है, इस प्रकारका पशुपति वह देव है, जो दृढ भक्ति और ध्यानके द्वारा सरलतासे प्राप्त किया जा सकता है (दृढ़भक्तियोगसुलभ.[6])

कालिदास 'अर्धनारीश्वर'[7] नामक सयुक्त प्रतिमाका उल्लेख करते है जिसमें शिवके दाहिने भागमें पार्वती बैठी है। गुप्त-कालीन हिन्दू-देव-समुदायमें ऐसी प्रतिमाओका बाहुल्य है। संगीत और गीत जिसको प्रिय है और जो उनका प्रवर्त्तक है, उस देवताका नृत्य[8] करते चित्रण किया जाता है।

त्रिमूर्ति हिन्दू-त्रिदेवकी धारणा एक सुलह है। यह विविधतामें एकता है और बहुदेववादसे एकेश्वरवादकी ओर जानेवाली प्रवृत्तिका

त्रिमूर्ति

सकेत करती है। हमने पिछले पृष्ठोमें देखा है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिवमे से प्रत्येक देव अपने-अपने क्षेत्रमें और अपने भक्तोंके लिए सर्वशक्तिमान् है। किन्तु त्रिमूर्ति एक संयुक्त आकृति है जिसमें सबके कार्य और महिमा शून्यताको पहुँच गई है। यथार्थमें उनमेंसे प्रत्येकके लिए जो स्तुतियाँ की गयी है और जिस महिमाका गान किया गया है उनमें ही वे आवश्यक तत्व विद्यमान है जिसने उनको एकत्व रूप दे दिया। कालिदासका यह विचार भी कि अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपोंके सिवा व्यक्तिगत देवता कुछ नही है, उसी

---

१ वही। २ १.११५, ६। ३ ११.२,६। ४ शान्ति P. (नारायणीय), अध्याय ३४६-६४। ५ अध्याय, ३८-४०। ६ विक्र०, १.१। ७ रघु०, १.१ आदि। ८ मेघ० पू०, ३६।

भावकी ओर निर्देश करता है। यहाँ हमे ध्यान रखना होगा कि लोक-धर्मको कवि-द्वारा उदार रूपमें प्रकट होनेसे पश्चात् कालके पंथो और सम्प्रदायोंके अनुयायियोकी कर्कश प्रवृत्तियाँ बहुत अशमें ढीली पड गई। यह मनोरजक है कि रघुवशके पराक्रमोका आरम्भ, जिनमें राम (विष्णु) के शौर्य सर्वापेक्षा विशिष्ट है, शिवके स्तुति-पाठसे होता है जब कि कुमार-सम्भवमें जिसमें शिवकी कथा है ब्रह्माकी[1] एक विस्तृत प्रार्थना दी गई है। कालिदासकी इस शैलीका अपने 'रामचरित मानस' मे तुलसीदासने समावेश किया है और यह भी रामावतारके रूपमे विष्णुकी शौर्य-कथा होनेके कारण शिवकी एक स्तुतिसे आरम्भ किया जाता है।

युद्ध-देव और देवताओंकी सेनाओंके[2] सेनानी स्कन्द वही है जो कार्त्ति-केय और कुमार। उसके नरकटोके बीच जन्म लेनेकी पौराणिक कथाके कारण, उसका नाम शरपरतभव[3] और शरजन्मा[4] भी पड गया है। देव-गिरि[5] पर्वत पर उसका एक मन्दिर था। भास्कर्य कलामें उसको सामान्यतः षडानन और मयूर पर आरोहण किये प्रकट किया जाता है। कालिदास ने उसकी आकृतिका[6] अकन किया है जिसको एक गुप्तकालीन शिल्पीने मूर्त रूप दिया। वह मूर्ति आज मथुराके सग्रहालयमें पडी हुई है। यह एक विशिष्ट बात है कि इस देवकी पूजाका जिक्र[7] पतजलि करते है और कनिष्क की कुछ मुद्राओंके पृष्ठ-तल पर ग्रीक अक्षरोमे स्कन्दो, महासेनो, कुमारो, और विजगो[8] नामवाली आकृतियाँ दीख पडती है। ४१४ ई० के एक गुप्त-युगके शिला-लेखमें बिलसदके[9] स्वामी महासेनके मन्दिरमें किसी ध्रुव शर्माके एक प्रतोली (बरामदा) बनानेका उल्लेख है।

---

१ २.४–१६। २ सेनानी रघु०, २.३७; गोप्तारं सुरसैन्यानां कुमा०, २.५२; रक्षाहेतोः चमूनाम् मेघ० पू०, ४३; रघु०, ७.१। ३ मेघ० पू०, ४५.४७। ४ रघु०, ३.२३। ५ मेघ० पू०, ४३–४५। ६ मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन रघु०, ६.४; मिलाकर भी मेघ० पू०, ४४। ७ ५.३.९९। ८ जे०बी० बी० आर० ए० एस०, भाग २०, पृ० ३८५। ९ वही, पृ० ३९५।

कुबेर

अलकाका[1] स्वामी, कुबेर उत्तर दिशाका अधिपति देवता, एक लोक-पाल है जिससे उक्त दिशाका नाम कौबेरी[2] पड़ा है। उसके नामसे कुरूपता प्रकट होती है। हाथमें एक थैली लिये बैठे कुरूप गर्दन और तोंदवाले एक लाक्षणिक बनिया या खजांचीके रूपमे उसकी मूर्ति मिलती है। इस देवताकी बहुत-सी प्रतिमाएँ मथुरा-संग्रहालयमें सुरक्षित हैं। उनकी पूजा प्रभूत रूपमें लोक-प्रचलित हो गई थी और यही कारण है कि हमें गुप्तकालीन लेखो[3] मे उसके हवाले प्राप्त होते है। कालिदास भी अक्सर[4] उसका उल्लेख करते है।

शेषनाग

शेषनाग अनादि कालका रूपक एक पौराणिक सर्प और नागोंका राजा है। उसका शरीर प्रलय कालके सागरमें विश्राम करनेवाले विष्णुकी शय्या बना था जब कि उसके सहस्र फन भगवान्‌के चन्दोवाका काम कर रहे थे। इस आकृतिकी शेषकी अनेको प्रतिमाएँ प्रचलित हैं। वह अपने एक फन पर पृथ्वीको रखे माना जाता हैं।

सप्त-अम्बा

वाक्यांश 'मातर'[5] मे सात माताओंका संकेत दिया गया है। अमर-कोशमें उनका इस प्रकार नामोल्लेख है—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वराही, इन्द्राणी और चामुण्डा।[6] कुषाण कालके एक मथुरा-प्रस्तर पर ऊँची उभाडके नक्शेमें सप्तमातृकोकी नीली किनारीकी पंक्ति उत्कीर्ण है।

---

१ मेघ० पू०, १ विक्र०, १.४। २ रघु०, ४.६६। ३ समुद्रगुप्तका का एलाहाबाद स्तम्भ-लेख, स० १.१, भाग ३, पंक्ति २६; समुद्रगुप्त इरान शिला-लेख, १.६; द्वितीय चन्द्रगुप्तका मथुरा शिला स्तम्भ-लेख; स्कन्दगुप्तका भीतरी शिला-स्तम्भ-लेख। ४ रघु०, ५.२६, २८, ६.२४, २५, १४.२०, १६.१०, १७.८१; कुमा०, २.२२; मेघ० पू०, ७; विक्र०, १.४। ५ कुमा०, ७.३८। ६ ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा। वाराही च तथैंद्राणी चामुण्डा सप्तमातरः ॥

एल्लौराके गुफा-मदिरोंके गुफा खं० २४ मे एक एतादृश पक्ति मिलती है। एक गुप्त शिलालेखमें[1] स्कन्दके साथ हमें उनका एक उल्लेख मिलता है।

उमा कविने शिवकी अर्द्धांगिनी उमाका,[2] पार्वती,[3] अम्बिका,[4] भवानी,[5] गौरी[6] आदि अनेको नामोंसे उल्लेख किया है। उसका सामान्य वाहन सिंह है।

काली महाकाल शिवकी सहारकारिणी शक्ति भद्रकाली[7] मनुष्यकी खोपडियोंकी[8] मुण्ड-माल धारण करती है। उसका एकीकरण उमा या सप्तमातृकोंमेंसे किसी एकसे नही हो सकता कारण, शिवके[9] विवाहके पूर्व दिव्य माताओं[10] के पीछे उनका अनुगमन करती उनके गणोंमे उसका स्पष्ट वर्णन हुआ है।

शची शची या इन्द्राणी इन्द्रकी पत्नी है और हिन्दू विवाहके आरम्भमें उसका आवाहन उस सस्कारकी अधिष्ठात्री देवी बननेके लिए किया जाता है क्योकि वह एक ऐसी पत्नी समझी जाती है जो निरन्तर शरणस्थानमें रहनेवाली है।

गंगा और यमुना गगा और यमुना तो देवियाँ थी ही और कालिदासने उनका शिवकी चामरधारिणी अगरक्षिकाओंके[11] रूपमे उल्लेख किया है। यह स्मरण रखा जा सकता है कि देवताओंको चामर-वाहिनी या क्रमश गगा और यमुना नदियोंमे अधिकार रखनेवाले जल-जन्तुओंके प्रतीक मकर और कच्छप पर खडी और जल-कुम्भ वहन करती मागलिक सज्जाके रूपमें उनकी आकृतियाँ कुषाण और गुप्त कालोंमे कम दिखाई नही देती थी। विष्णुके[12] पैरके नखमे गगाकी उत्पत्ति मानी गई है।

---

१ स्कन्दगुप्तका विहार शिला-स्तम्भ-लेख। २ कुमा०, १.४३, ३.५८, ६२ आदि। ३ वही, १.१६, ५.१, ६, ८०; रघु०, १.१ आदि। ४ कुमा०, ८ १८, ७८ आदि। ५ मेघ० पू०, ३६, ४४। ६ कुमा०, ५.५०, ७.९५। ७ वही, ७.३९। ८ वही। ९ वही। १० मिलाकर, वही, ३८–३९। ११ कुमा०, ७.४२। १२ वही, ६ ७०।

सरस्वती

ब्रह्माकी पत्नी सरस्वती या भारती वाणी और विद्याकी देवी है और वह कला तथा विज्ञानकी संरक्षिका है। उसकी प्रतिमाके हाथमे एक वीणा होती है।

लक्ष्मी

लक्ष्मी,[१] जिसके संबन्धमें अनेक उल्लेख हुए है, विष्णुकी पत्नी है। शेषशायी भगवान्‌के चरणोको दवाती उसकी प्रतिमाएँ बनी है। कालिदासने उसकी इस आकृतिका विस्तृत चित्रण किया है जहाँ वह एक पद्म पर बैठी है, रेशमी वस्त्र उसके कटि-प्रदेशको सुशोभित कर रहा है और वह विष्णुके चरणोको अपनी गोदमें[२] लिये पलोट रही है।

पितर और ऋषि

पितरोको पिण्ड-दान[३] ग्रहण करनेवाले अर्द्ध-देवोके जैसा लिखा गया है। ये स्वर्गीय पूर्वज है। आदि मुनि—भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि, वशिष्ठ, विष्णु-पुराणके अनुसार है—कविके वर्णनोमें केवल सात[४] है। इस संबन्धमें कालिदास पारम्परिक संख्याको ही लेते है। ऋग्वेदमें[५] उनकी संख्या सात बतायी जा चुकी है। ये वहाँ देवताओंके[६] साथ रखे गये है और उन्हें दिव्य[७] कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण प्रत्येकको एक नाम[८] देता है और उसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्[९] भी करता है। आधुनिक विश्वास जो उनको नक्षत्र-उर्समजोर-बनाता है 'शतपथ ब्राह्मण' की धारणाकी पुष्टि मात्र है जो उनको मृगशिराका[१०] नक्षत्र-पुंज कहता है। कालिदासके कथानकमें सप्तर्षि शिवके[११] साथ उमाका विवाह करनेके लिए उसके पितासे अनुरोध करते है।

---

१ रघु०, ६.५८, ६.१६, ४.५; मेघ० पू०, ३२ आदि। २ रघु०, १०.८। ३ वही, १.६६, ६७, ६६, ७१, ५.८; शाकु०, ६.२५। ४ रघु०, १०.६३; कुमा०, १.१६। ५ ४.४२.८। ६ १०.१०६,४। ७ वही, १३०,७। ८ १४.५, २, ६। ९ २.२, ६। १० २.१, २, ४। ११ कुमा०, ६.४७—८८।

कविने विद्याधरों, किन्नरों, किंपुरुषों, पुण्यजनों, यक्षों, सिद्धों, गणोंको दिव्य-शक्ति-सम्पन्न सा वर्णित किया है जो लोक-विश्वासका प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है।

विद्याधर

हिमालयके सर्वोच्च शिखरों पर विद्याधरोंका निवास माना जाता था। उनकी प्रेयसियोंका भूर्जपत्र पर गेरूसे[1] प्रेम-पत्रका लिखना प्रसिद्ध है। बादमें, राजा हर्ष अपने नागानन्दका नायक एक विद्याधरको बनाता है।

किन्नर

किन्नर मनुष्यका सिर और घोड़ेका शरीर रखनेवाले समझे जाते थे। भास्कर्यमें इस प्रकारके नमूने मथुराके संग्रहालयमें सुरक्षित हैं। उनकी दूसरी जाति वह थी जिसका सिर घोड़ेका और शरीर मनुष्यका होता था। कालिदासके वाक्यांश 'अश्वमुख्य'[2] से इस जातिकी स्त्रियोंकी ओर लक्ष्य किया गया है। अश्वमुखी जातकमें एक ऐसे ही जीवकी कथा है जो कुषाण-कालके रेलिंग-स्तम्भों पर उत्कीर्ण है। गंधर्वोंके सदृश उनका भी दिव्य[3] गायकोंके रूपमें वर्णन किया गया है। अन्यथा वे किंपुरुष कहलाते हैं।

पुण्यजन

अथर्व[4] वेदमें गन्धर्व, अप्सर, सर्प, देव और पितरके साथ उन्हींके समान पुण्यजन भी अर्द्ध देवताओंमें गिने गये हैं।

यक्ष

अलकामें निवास करनेवाले धनपति कुबेरकी परिचर्या करने वाले थे यक्ष। मेघदूतके उत्तर खण्डमें कविने उनके जीवन और बसतीका एक विशद और काल्पनिक वर्णन दिया है। मौर्य-कालमें ही यक्ष-सम्प्रदाय विकसित हुआ प्रतीत होता है और यक्षोंकी बहुसंख्यक प्रतिमाओंकी विद्यमानता इस विचारकी पुष्टि करती है कि इनकी पूजा गुप्तकाल तक समयकी एक लम्बी दौरमें चलती रही। यह ध्यानमें रखा जा सकता है कि भारतीय भास्कर्यके सबसे आरम्भिक नमूना एक यक्षकी मूर्ति है जो मौर्यकालीन शैलीको व्यक्त करती बड़ी ऊँचाईकी[5] गोलाईमें उत्कीर्ण है। दिन्नाके हाथों सुसंस्कृत

---

१ कुमा०, १.७। २ वही, ११। ३ वही, ८। ४ गन्धर्वाप्सरसः देवाः पुण्यजनाः पितरः ८.८, १५। ५ पर्खम यक्ष, १०. C १।

यह मूर्ति आज भी मथुरा-संग्रहालयमें देखी जा सकती है। सैकड़ों यक्ष-मूर्तियाँ जिनमेंसे अधिकांश सभी आकृतियोंकी गोलाईमें उत्कीर्ण हैं वहीं प्रदर्शित हैं और उनको देखकर दर्शकपर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता कि किसी समय भारतके धार्मिक कर्मकाण्डोंमें यक्ष-धर्म और यक्ष-पूजनकी प्रथा प्रचलित थी। कविका अपने अमर मेघदूतके कथानकके लिए एक यक्षकी कथाको चुनना ही लोगोंके धार्मिक विश्वासोंके क्षेत्रमें प्राप्त इस प्रकारके अर्द्धदेवोंके एक मुख्य स्थानकी ओर निश्चयपूर्वक संकेत करता है। वे प्रेमके आदर्श थे और हम मथुरा-संग्रहालयके भास्कर्य प्रदर्शनोंमें एक[1] प्लेटमें एक यक्ष-दम्पतिको जाते देख सकते हैं, कदाचित् वे बाजार जा रहे हैं, बड़े रोमांचक ढंगसे। उन्होंने आधुनिक भारतीय शोहदेकी तरह सिरके मुकुटको तिरछे कर लिया है और उनमेंसे एकने अपने हाथपर मुर्गे-सा एक पक्षी बैठा रखा है। यक्ष लोगोंके रोमांचक जीवनका लाक्षणिक प्रतीक बना ज्ञात होता है। कलामें यक्षी जब अकेली दिखायी जाती है तो वह मनुष्यकी अनिष्टकारी लालसाओं और वासनामयी अभिलाषाओंको पूर्ण करती है जिनके भारके नीचे पिसकर मनुष्य मृत्युका ग्रास हो जाता है। दीन लघु-काय जीवको अपने पैरोंके तले कुचलती हुई यक्षकी असंख्य प्रतिमाएँ हैं। वह जीव मनुष्य है जो अपनी तृष्णारूपिणी यक्षीके बोझसे दबा गिड़गिड़ा रहा है।

सिद्ध और गण

विद्याधरोंके समान सिद्ध भी हिमवानके[2] शिखरोंके निवासी हैं। उनको भी अर्द्धदेवत्व और सिद्धियाँ प्राप्त हैं। गण एतादृश निम्न श्रेणीके देवता हैं जो शिवकी[3] परिचर्यामें रहनेवाले हैं और वे गजानन तथा शिव-सुवन गणेशके आधिपत्यमें जीवन यापन करते माने जाते हैं।

---

१ हैण्ड बुक आफ स्कल्पचर्स इन दी कर्जोन म्युजियम आफ आर्चियोलोजी द्वारा वी० एस० अग्रवाल, का फलक १४ वां। २ कुमा०, १.५। ३ वही, ७.४०, १.५४।

देवताओंके उक्त वर्णनसे इस प्रकरणमे ब्रह्म-ज्ञानका प्रवेश हो आता है जिसकी चर्चा हम संक्षेपमें आगे करेंगे। कालिदासके समयके हिन्दू-देव-

ब्रह्मज्ञान और बहुदेवत्ववाद

समुदायमे अनेको देवताओंका होना लोगोंका बहुदेवत्ववादके सिद्धान्तोमें विश्वास प्रकट करता है। किन्तु यद्यपि देवताओंकी अनेकता बहु-देवत्ववादकी ओर संकेत करती है तथापि ईश्वरीयताकी अनन्ततामें एक परम आवश्यक एकताकी धारा प्रवाहित हो रही है।

लोक-विश्वासके अनुसार देवताओंकी वन आई थी और इस पक्षमे जन-साधारणका दृष्टिकोण बहुदेवत्ववादी कहा जा सकता है किन्तु इसी

एकेश्वरवाद और विश्वात्मा

बहुदेवत्ववादिताके आधारसे एकेश्वरवादकी इमारत निकल खडी होती है क्योंकि जब कभी कालिदास किसी मुख्य देवता यथा ब्रह्मा, विष्णु या शिवकी स्तुति करते है, वे उस समय शेष देवताओंको भूल जाते है और उसीको समस्त जगत्का स्रष्टा, पालक और संहारक बना देते हैं। अत. एक देवताकी सर्वशक्तिमानता और सर्व देवोंमें एक मौलिक एकताकी विद्यमानतामें विश्वाससे ही एकेश्वरवादका सृजन हुआ है। और क्योंकि कवि ईश्वरको जगत्का कारण और कार्य बनाकर जगत्को ईश्वरका अंश बना देता है, विश्वात्माका सिद्धान्त भी सरलतासे स्वीकृत हो जाता है। शिवकी[1] स्तुतिमें विश्वात्माका सिद्धान्त प्रस्तावित हुआ है जहाँ वह सारे विश्वको व्याप्तकर स्थित कहा गया है और फिर भी वह उसमे समा नही सका है। उसका एकीकरण प्रकृतिके तत्त्वोंसे भी किया गया है और इस कारण उसका नाम अष्टमूर्ति[2] पडा है।

---

१ विक्र०, १.१। २ रघु०, २.३५; शाकु०, १.१; माल०, १.१।

फिर शिवके सम्बन्धमें कालिदासकी वेदान्तीय[1] धारणा और शिवका त्रिधा[2] विभक्त (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) होकर एक (एकैवमूर्तिः) होना अद्वैतवादके सिद्धान्तकी ओर सीधे संकेत करते हैं।

अद्वैतवाद

जिन असंख्य देवताओंकी विवेचना हमने ऊपर की है अपनी प्रतिमाओंके द्वारा पूजित थे। अभीतक चित्रकलामें एक बहुत उच्च कोटिका टेकनिक विकसित हो चुका था जिसकी सहायता से मौर्य, कुषाण और गुप्त कालोंकी असंख्य मनोरम प्रतिमाएँ और मूर्तियाँ निर्मित हुईं। ये प्रतिमाएँ और मूर्तियाँ अनेकों देवताओंके मन्दिरोंमें स्थापित होनेके लिए थीं। गुप्तकालीन लेख इनकी विद्यमानताके प्रमाण हैं और देवालयों तथा अन्य सकल्प-सिद्ध स्मारकोंकी बढ़ती हुई संख्याका उल्लेख करते हैं। कालिदास स्वयं देवताओंके बहुसंख्यक मन्दिरों (प्रतिमागृह)[3] की चर्चा करते हैं। रघुवंशमें[4] विश्वेश्वरको समर्पित बनारसके शिव-मन्दिरका जिक्र आया है। मेघदूतमें[5] उज्जयिनीके महाकाल (शिव) चण्डेश्वरके प्रसिद्ध मन्दिरका विस्तारसे वर्णन है। उसी रचनामें स्कन्दके[6] एक मन्दिरका भी उल्लेख है। इस प्रकार जन-साधारणका विश्वास प्रतिमा-पूजनकी प्रथाकी ओर केन्द्रित था।

प्रतिमापूजन

अब हम संस्कारों, यज्ञ तथा अनुष्ठानों, उत्सवों, विश्वासों और अन्धविश्वासों आदि जैसे अन्य धार्मिक अभ्यासों, संस्कारों तथा याज्ञिक कृत्यों का विवेचन करेंगे।

तीन द्विज वर्णोंके लिए कालिदास अनेकों संस्कारोंका[7] वर्णन करते हैं। ये संस्कार उनको नवीन जन्मका अधिकार देते माने जाते थे जिसके

---

१ ऋतु०, ७.४४। २ विक्र०, १·१। ३ रघु०, १६.३६। ४ १८.२४। ५ पूर्व, ३३ भी महाकालनिकेतन रघु०, ६.३४। ६ मेघ० पू० ४३। ७ रघु०, ३.१८, १०.७८।

कारण वे 'द्विज'[1] कहलाते थे। इन संस्कारोंमें कविने पुंसवन, जातकर्म,[2] नामधेय,[3] चूडा-करण,[4] उपवीत,[5] गोदान,[6] विवाह[7] और दशाहका[8] नामोल्लेख किया है।

संस्कार

शुद्धि-संस्कारोंमे सबसे पहला पुंसवन है जो बालकके[9] जन्मके लिए गर्भके चिह्न प्रकट हो जाने पर किया जाता है। प्राचीन कालसे ही हिन्दू पुत्रकी उत्पत्तिके विचारसे आह्लादित हो उठते थे जो उनको तीन ऋणोंमेंसे एक पितृ-ऋणसे[10] मुक्त करता था। पुंसवन संस्कारका सबसे प्रधान और विचित्र भाग यह है कि जौका एक दाना और मापके दो स्त्रीके दाहिने हाथकी हथेली पर रखे जाते हैं और उनपर थोड़ा मक्खन या दही डालकर उस सारेके सारे को स्त्रीको पिलाया या चखाया जाता है और मंत्र पढ़े जाते रहते हैं।

पुंसवन

शुद्धि-संस्कारोंमें चौथा और बच्चेके जन्मके पश्चात् प्रथम जातकर्म है। नालच्छेदके पूर्व यह किया जाता था। पुत्रोत्पत्तिकी सूचना पाते ही पिता उसका मुँह देखता था और उचित रीतिसे स्नान तथा मार्जन करनेके उपरान्त वह अपने नौ पितरोंका श्राद्ध करता था और बच्चेको घी-मधु देता था। नारायण भट्ट अपने प्रयोगरत्नमें इस संस्कारका विवरण देता है।

जातकर्म

---

१ रघु०, ३.१०; शाकु०, पृ० २१६। २ वही, ३.१८; शाकु०, पृ० २४६, २६१; विक्र०, पृ० १२८। ३ रघु०, ३.२१, ५.३६, ८.२६, १०.६७। ४ वृत्तचूल (चूडाकर्म) वही, ३.२८। ५ वही, २९। ६ वही, ३३। ७ वही, मिलाकर भी रघु०, ७ और कुमा०, ७। ८ रघु०, ८.७३। ९ व्यक्ते गर्भे द्वितीये तु मासे पुंसवनं भवेत्: गर्भेऽव्यक्ते तृतीये चेच्चतुर्थे मासि वा भवेत्॥ टीकाकार-द्वारा शौनक का उल्लेख; मासे द्वितीये तृतीये वा पुंसवनं यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा-युक्तः स्यात् टीकाकार-द्वारा पारस्करका उल्लेख। १० ऋणनिर्मोक्ष-साधनम् रघु०, १०.२; संततिच्छेदः...उपतिष्ठन्ति शाकु०, पृ० २२०; भी मिलाकर रघु०, १.६६; शाकु०, ६.२५; विक्र०, ५.९।

यह संस्कार पिता-द्वारा सम्पादित होता था किन्तु उनकी अनुपस्थितिमे कोई भी उसका स्थान ग्रहण कर सकता था। संस्कारो एवं प्रयोगोकी पुस्तकोमे ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके जातकर्म-संस्कारोमें कोई अन्तर नही बताया गया है। जैसा कि टीकाकारने[1] शङ्खका प्रमाण दिया है शुद्धि-स्नानके बाद जन्मका अशौच दूर होने पर नामधेय संस्कार किया जाता था। शिशु[2] के प्रथम या तृतीय वर्षमे चूडा होता था। इस संस्कारमे ही बालकके सिरपर लम्बे बालोका[3] एक गुच्छा (शिखा) बढनेके लिए छोड दिया जाता था।

नामधेय और चूडाकरण

द्विज-पुत्रको जब यज्ञोपवीत दिया जाता और जब वह वेदारम्भ करता तो उसका उपनयन[4]-संस्कार होता था। यह एक दीक्षा-संस्कार था। परशुरामके शरीर पर यज्ञोपवीत उनके ब्राह्मण[5] पिताका प्रतिनिधित्व करता कहा गया है (पित्र्यमंश)। उसी प्रकार उनका धनुष एक क्षत्रियका[6] चिह्न समझा जाता था और क्षत्रिय माता राजा प्रसेनजित्की पुत्री रेणुकामे उनके उत्पन्न होनेका संकेतक था। इससे भी पूर्व कालमे उपवीत केवल ब्राह्मणके लिए ही लाक्षणिक वस्तु नही था किन्तु प्रथम तीन वर्णोका एक समान। कालिदासके ऐसे उल्लेखसे कि मानो इसपर एकमात्र ब्राह्मणोका ही अधिकार था यह बहुत-कुछ सम्भव है कि उनके समयमे जैसा कि आजकल कुछ अवस्थाओंमें ब्राह्मणों-द्वारा उपयोगमे लाये जानेके योग्य समझा गया था।

उपनयन

---

१ 'अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते'—रघु०, पर पृ० ४२, ३.२१। २ चूडा कार्या द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्या श्रुतिचोदनात्॥ मनुस्मृति, २.३५। ३ स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैः रघु०, ३.२८। ४ उपनयन या वेदारम्भ पर कालिदासने पर्याप्त प्रकाश डाला है जिसका विवेचन हमने शिक्षाके प्रकरणमें किया है। ५ रघु०, ११.६४। ६ वही।

मनुस्मृति[1] के अनुसार यह सूत्र धारण करनेवालेके वर्णके विचारसे कपास, पाट और ऊन आदि कई पदार्थोंसे बनाया जाता था और यह बायें कन्धेपर और दाहिनी बाँहके नीचे पहना जाता था। मानव धर्म-शास्त्रके[2] आदेशानुसार यज्ञोपवीतका अधिकार, जिससे द्विजकी सज्ञा प्राप्त होती थी, प्रथम तीन वर्णोंके युवकोंके लिए ही विहित था जिसके लिए उपयुक्त वयस क्रमश आठसे सोलह, ग्यारहसे बाईस और बारहसे चौबीस समझा गया था।

गोदान

सर्वप्रथम क्षौर-कर्मका सस्कार गोदान[3] था। चूडाकरणसे यह इस बातमें पृथक् था कि पहले पहल जब दाढी बनायी जाती थी तो यह सस्कार होता था। मनुस्मृतिके[4] अनुसार सोलहवे वर्षमे ब्राह्मणका, बाईसवेंमे क्षत्रियका और चौबीसवेंमे वैश्यका गोदान सस्कार किया जाता था। कालिदासके लेखसे प्रकट होता है कि गोदान-सस्कार विवाह-सस्कारसे कुछ घटे पूर्व समाप्त होता था और शायद यह विवाहके[5] अवसर पर ही कर दिया जाता था।

दशाह

गोदानके बाद विवाह होता था। कालिदासने इस सस्कारके विविध प्रकारोका विस्तारसे वर्णन किया है जिसका विवेचन हम पिछले एक अध्याय मे कर आये हैं। इसके बाद अन्तिम सस्कार आता है दशाह जिसका कविने उल्लेख किया है। यह अन्तिम सस्कार था जो द्विजके मरने पर किया जाता था। इसका अर्थ है अशौचका दसवाँ दिन जिसके बाद श्राद्ध किया जाता था जब अन्तिम शुद्धि प्राप्त होती थी। मृत्युके दिनसे ये दस दिन गिने जाते थे और इसलिए इस संस्कारमें श्राद्धके सभी क्रिया-कलाप सम्मिलित थे,[6] यथा, मृतक

---

१ २.४४। २ वही, ३६। ३ रघु०, ३.३३। ४ मनुस्मृति २.६५। ५ रघु०, ३.३३। ६ वही, ८—२६।

शरीरकी अन्तिम सजावट[1] (अन्तिममण्डनम्) (जो, जैसा कि उद्धरण—यही अंग-लेपन मेरा मृत्यु-मण्डन[2] होगा—प्रकट करता है, उस प्रथाकी ओर संकेत करता है जिसके द्वारा दाह-क्रियाके पूर्व शव आभूषणों और पुष्पोंसे आभूषित होता और अगरु तथा चन्दनके[3] लेप उसपर लगाये जाते थे); अग्नि-संस्कार[4] अर्थात् मृतक शरीरको नवीन श्वेत वस्त्र (प्रेत चीवर[5]) में लपेटनेके बाद चितामें अग्निका संयोग करना और अन्ततोगत्वा दशाह[6] संस्कार। यह विशेषकर दशम दिवसके श्राद्ध संस्कारका अर्थ-बोधक है जो आज भी कश्मीरमें प्रचलित है जो कश्मीरके गँवोंमें विस्तृत रूपमें सम्पन्न होता है। कालिदासकी रचनाओंका एक टीकाकार वल्लभ बतलाता है कि 'दशाह एक संस्कार-विशेषका नाम है अशौचके दस दिनोंका बोधक नहीं।'[7]

हम प्रातःकालके शौचोंके[8] विषयमें पढ़ते हैं जिनसे बने अनेकों कर्म-काण्डोंको शास्त्रोंके आदेशानुसार एक द्विज दिनमें सम्पादित करता है।

धार्मिक कृत्यों, संस्कारों, और विधि-विधानोंका विवेचन करनेके पूर्व यहाँ यज्ञाग्निका उल्लेख करना आवश्यक होगा जिसके द्वारा सारा

अग्नि

यज्ञभाग देवताओंको पहुँचता था और जिसकी सहायतासे संस्कार और कर्मकाण्ड किये जाते थे। अग्निहोत्रकी अग्निके पास बैठकर ब्रह्मचारी अपने विविध संस्कार

---

१ वही, ८.७१; मिलाकर कुमा०, ४.२२। अन्त्यमण्डनम् पर अश्वलायनका उल्लेख इस प्रकार है—प्रेतं स्नपयित्वा नलदेनानुलिप्य नलदमालां जपामालां वा प्रतिमुच्य मूलतो हृतवाससः पादमात्रमच्छिद्य-शेषेण प्रत्यग्रेण प्राक्शिरसमावि:। पादनाच्छादयेयुः परिधानीयं चान्यद्दध्युः गृहपरिध्या, अध्याय ३, खण्ड १। २ मृत्युमण्डनं भविष्यति माल०, पृ० ४५। ३ रघु०, ८.७१। ४ अग्निसंस्कारतत्परा वही, १२.५६; मिलाकर वही, ७.७२, ५७; कुमा०, ४.२२। ५ रघु०, ११.१६। ७ मिलाकर वही, ८.७३; शाकु०, पृ० ६४। ५ दशाहोऽत्र विधिविशेषो न तु दशदिनानीति वल्लभ—दी वर्थ प्लस आफ कालिदास-द्वारा लक्ष्मीधर कल्ल,। ८ रघु०, ५.६।

करते और इसके सहयोगसे गृहस्थ अपने आह्लिक तथा अन्य यज्ञोको पूरा करनेमें समर्थ होता। यह अग्निहोत्रकी अग्नि ही थी, विवाहके अवसरपर जिसकी परिक्रमा वर-वधू करते थे और उनसे आशा की जाती थी कि वे इस अग्निको आजीवन प्रज्वलित रखेंगे। कवि हुताग्निके विविध प्रकारका उल्लेख करता है। रघुवंशमें[1] वह इसके तीन प्रकारो, दक्षिणा, गार्हपत्य तथा आहवनीयका[2] अप्रत्यक्षतया उल्लेख करता है जिनको पवित्र और प्रज्वलित रखनेको द्विजको आदेश किया गया था। मनु[2] सभ्य और अवसथ नामक दो और अग्नियोंके नाम रखता है। उक्त तीन अग्नियोंमेंसे दूसरेको गृहस्थ अपने पितासे प्राप्त करता था और अपने पुत्र तक पहुँचा देता था और उससे यज्ञके लिए अग्नि प्रज्वलित की जाती थी; तीसरी वह अग्नि थी जो सदा प्रज्वलित रहनेवाली अग्निसे जलायी गयी होती थी और उसीमें सारी आहुतियाँ दी जाती थी। गृहका विशेष कमरा जो इसी उद्देशके लिए, रख छोड़ा जाता था 'अग्न्यागार'[4] कहलाता था जहाँ अग्नि सदा जलती रहती थी। प्रातः तथा सायं इसमें आहुतियाँ दी जाती थी।

कालिदास प्राय[5] यज्ञोका वर्णन करते है। हमने पिछले एक अध्यायमे विजयके साधन स्वरूप अश्वमेधका उल्लेख किया है। यह एक

---

१ चतुर्याग्नि ५.२५, १.६। २ मनुस्मृति, २.२२१। २ वही, ३.१००, १८५। ३ रघु०, ५.२५; अग्निशरण शाकु०, पृ० १२५, १५६; विक्र०, पृ० ६०। ४ मंगलगृह माल०, पृ० ८८। ५ यज्ञ रघु०, १.२६, ४४, ८.३०; कुमा०, १.१७, २.४६, ६.७२; अध्वर रघु०, १.३१, ५. १.६, १२, ११.१, १६.३५, अवभृथ वही, १.८४, ६.२२, १३.६१; क्रतु वही, ६.२०, १७.६०; कुमा०, १.५१; सत्र रघु०, १.८०; सवन ८.७५; शाकु०, ३.२४ मिलाकर भी रघु०, १.८२, ६.३८, ६.२१, १०.४, ५१, ७६, ११.२४, ११.२५, ३०, १३.३७; कुमा०, ६.२८।

राजनीतिक ढगका था। आगेके पृष्ठोमें हम संक्षेपमे इसके धार्मिक पहलू-पर विचार करेगे। यज्ञ लम्बे और छोटे थे।

यज्ञ

उस प्रकारका यज्ञ जिसमें पुरोहित यज्ञीय सत्र तक बैठते थे 'दीर्घसत्र'[1] नाम वाला था। भागवत पुराणके काल्पनिक सिद्धान्तोंके अनुसार सत्रको करनेके लिए आवश्यक कालावधि एक वर्षसे लेकर एक सहस्र[2] वर्ष पर्यन्त तक की हो सकती थी। पूर्वके लेखकोंने 'अध्वर'को[3] ऐसा यज्ञ कहा है जिसमे हिंसा[4] नही होती थी। किन्तु कालिदास उसको इस अर्थमे प्रयुक्त करते नही प्रतीत होते क्योंकि उनके उल्लेखोंमें पशुवलिका[5] जिक्र आता है और मेध्य वास्तवमे आरम्भमे उस वस्तुके लिए आता था जो वलि चढाई जाती थी। वलि-पशु एक स्तम्भसे बाँधा जाता था जिसे 'यूप'[6] कहते थे और पशुको इस प्रकार बाँधनेकी क्रिया भी यज्ञका[7] एक संस्कार ही थी। श्रोत्रिय ब्राह्मणोको दानमे दिये गये ग्रामोंका वर्णन कवि करता है जिनमे यूपों[8]की भरमार थी। अर्गलाके साथ ऐसे यूपकी दो बृहदाकार प्रतिमाएँ मथुरा संग्रहालयमे रखी है उनमेंसे एकको एक सामवेदी ब्राह्मणने[9] पूजनके लिए समर्पित किया है।

यज्ञके आरम्भमे यजमानका[10] एक धार्मिक संस्कार होता था जिसे दीक्षा[11] कहते थे। उस समय शिव उनके शरीरमे[12] प्रवेश करता था और

---

१ रघु०, १.८० महाक्रतु १७.८०। २ १.१.४। ३ रघु०, १.३१, ५.१, ६.२३, ११.१, १६.३५। ४ मनुस्मृति देखो, ५.४४। ५ पशुमारणकर्मदारुणो...श्रोत्रियः शाकु०, ६.१; मिलाकर यूपका प्रयोग भी। ६ रघु०, १.४४, ११.३७, ६.३८, ९.३०, १३.६१, १६.३५। ७ मिलाकर रघु०, ११.३७। ८ वही, २.४४। ९ जे० पी० एच० वोगल के सूचीपत्र का ९.१३। १० कुमा०, ६.२८; रघु०, १.८३; मिलाकर रघु०, ९.२१। ११ रघु०; ८.७५, ११.२४। १२ वही, ९.२१।

उनको अपने जैसा ही पवित्र बना देता था। यज्ञ-भूमिका घेरा यज्ञशरण[1] कहा जाता और यजमान जब उसमें एक बार[2] प्रवेश कर जाता था तो वह उसको नहीं छोड़ता था। अवभृथ[3] नामक एक मुख्य संस्कारके द्वारा यज्ञकी समाप्ति सूचित होती थी। एक 'दीर्घसत्र' के समाप्त होने पर यह सोलह स्थानापन्न पुरोहितों के द्वारा किया जाता था और इसमें मुख्यतः सामग्रियों, यज्ञके पात्रों और मुख्य यज्ञके बचे-खुचे सामानोंको, वरुण देवको आहुतियाँ देनेके बाद, नदीमें प्रवाहित करनेके लिए इकट्ठा करना और अन्तिम बार शरीरप्रक्षालन[4] विहित था।

अवभृथ

अश्वमेध और दीर्घसत्रके अतिरिक्त कालिदास विश्वजित् और पुत्रेष्टि[5] नामक दो अन्य प्रकारके यज्ञोंका भी उल्लेख करते हैं। इनमेंसे पहला दिग्विजयके पश्चात् किया जाता था और इसीलिए उसका नाम 'महाक्रतु' था। यह विजयके अन्य यज्ञोंसे इस बातमें भिन्न था कि यजमान अपना सारा कोष दान कर देता था।[6] पुत्रकी कामना करने वाला पुत्रेष्टि करता था।

विश्वजित् और पुत्रेष्टि

यज्ञके अन्तमें यज्ञ-शुल्क, दक्षिणा[7] यज्ञकर्ता पुरोहितोंको देना आवश्यक था। यज्ञकर्ता पुरोहितोंकी संख्या बहुत पहले ही सोलह हो गई थी।

---

१ सम्राट् पुष्यमित्रका अपने पुत्र अग्निमित्रको लिखा पत्र; माल०, पृ० १०२। २ मिलाकर रघु०, ८.७५, मात्वन्यत्रदीक्षित-विमितादादित्योन्यदियाद्वाम्यस्तमिवाह्वा। बौधायन भी, सोम. प्रकरण। ३ रघु०, १.८४, ६.८३, १३.६१। ४ बौधायन, अग्निष्टोमसूत्र, प्रश्न ५, सूत्र ६२, ६३, मिलाकर। दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञः अमरकोश। एक महायज्ञके अन्तमें एक पवित्र स्नान भी, देखिये, तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.६६। ५ रघु०, ५.१। ६ वही, १०.४। ७ वही। ८ वही, १.३१, १७.८०।

उनमेंसे दो होता[1] तथा ऋत्विजका[2] उल्लेख कविने किया है। इनमेंसे पहले शब्दका प्रयोग यजमानके लिए भी आता था। दूसरा ऋत्विज पुरोहित था। सोलह पुरोहितोंकी दक्षिणा अवश्य प्रचुर होगी। रघुके विश्वजित् यज्ञका अनुष्ठान करनेके उपरान्त उसका कोप बिलकुल रिक्त[3] हो गया और उसे सुवर्ण-पात्रोंके स्थानमें मिट्टीके[4] वर्त्तनोंको काममें लाना पड़ा।

पुरोहितोंको दक्षिणा

यज्ञमें जो वस्तु प्रदत्त होती थी मेध्य[5] कहलाती थी। यह पशु हो या हवि[6] (स्वधा[7] भी) या पयश्चरु,[8] खीर आदि दूसरे चढावे। हविको ग्रहण करनेके कारण ही यज्ञाग्नि 'हविर्भुज'[9] कहलाती थी। सामान्यतः यज्ञ-वलि इन्द्रके[10] लिए होते थे अतः वह 'मखांगभाज'[11] के नामसे भी अभिहित होता था। विकङ्कत काष्ठका[12] बना स्रुवा[13] और अरणिसे[14] क्रमश. आहुतियाँ[15] दी जाती तथा अग्नि जागृत की जाती थी। महाशय एन० मोनियर विलियम्सने स्रुवाको एक छोटा काष्ठका करछुल कहा है (जिसके एक छोर पर अण्डाकार गढा बना होता है जिससे बड़े कड़ाहे अर्थात् 'स्नफ'में घी डालते हैं और कभी-कभी घीकी आहुतियाँ देनेमें भी प्रयोगमें आता है।'[16]) उसी कोशने अरणिका अर्थ किया है—लकड़ीका टुकडा जिसको रगड़कर आग जलायी जाती है।[17] एक तीक्ष्ण घास, कुशका[18] प्रयोग भी यज्ञोंमे होता था। यज्ञ-कालमें यजमान एक दण्ड[19]

---

१ वही, १.८२। २ वही, १०.४, ११.२५, ३०, १७.८०। ३ निःशेषविश्राणितकोषजातम् वही, ५.१। ४ मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे वही, २। ५ वही, १.८४। ६ वही ७६, १३.३७; कुमा०, २.१५, ४६, ६.२८। ७ रघु०, ८.३०। ८ रघु०, १०.५१। ९ वही, ७६। १० वही, ६.२३ आदि। ११ वही, ३.४४। १२ वही, ११.२५। १३ वही, ११.२५। १४ कुमा०, ६.२८। १५ रघु०, १.८२। १६ संस्कृत-इंगलिश डिक्सनरी, पृ० १२७४, कालम ३। १७ वही, पृ० ८६ Colam E। १८ वही, १.४९। १९ वही, ९.२१।

धारण करता था और अजिन[1] अर्थात् मृगचर्म पर बैठता था। यज्ञका चबूतरा वेदीसे[2] प्रसिद्ध था।

यज्ञोंमें असंख्य पशुओंके वधकी प्रतिक्रिया कुछ लोगोंके मस्तिष्कों पर देखी जाती है क्योंकि पशुकी हिंसासे मुक्त आँखोंको[3] रखने वाले एक यज्ञका हमें उल्लेख मिलता है। जीवनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करनेवाले ऐसे विचारोंको जागृत करनेमें बौद्ध धर्मने भी अवश्य ही अपना हाथ बँटाया होगा।

पूजा

यज्ञ-विधानोंके अतिरिक्त पूजाकी अन्य विधियाँ भी थीं। पूजन-कर्मको सपर्या,[4] विधि,[5] क्रिया,[6] अर्चना,[7] बलिकर्म,[8] पूजा[9] आदि विविध नामोंसे पुकारते थे। विधि पूजाकी उपयुक्त शैलीके[10] लिए भी आती थी। पूजनके लिए आवश्यक द्रव्य थे—कुश,[11] दूर्वा,[12] अक्षत[13] और पुष्प[14] आदि। मधु, घृत तथा अन्य सुस्वादु द्रव्योंसे बना अर्घ्य[15] देवताओं[16] तथा अतिथियोंकी[17] सेवामें उपस्थित करनेके लिए होता था। हमें ज्ञात होता है कि दिनमें दो बार प्रात.[18] और साय[19] अर्घ्य दान किया जाता था। दैनिक प्रार्थनाके समय जल-दान 'अजलिक्रिया'[20] था। श्राद्धमें भी 'अंजलि-

---

१ वही। २ शाकु०, ३.२४। ३ शान्त कर्तुं चाक्षुषं माल०, १। ४ रघु०, ५.२२। ५ वही, १.५६, ५.७६, ८.७६; कुमा०, ८.५०। ६ रघु०, ५.७; कुमा०, ७३.८.४७। ७ शाकु०, पृ० ११७। ८ वही, विक्र०, ३.२, HH. २२। ९ रघु०, ७.३०। १० वही, २२; कुमा०, ८.४७। ११ रघु०, १.४९। १२ विक्र०, २.१२, आदि। १३. साक्षतपत्रहस्ता रघु०, २.२१; लाज वही, ७.२५, २६; कुमा०, ७.८१। १४ विक्र०, ३.२; माल०, पृ० ६६, मेघ० उ०, २४। १५ रघु०, ५.२; कुमा०, ६.५०। १६ रघु०, ५.२। १७ कुमा०, ६.५। १८ दिवसमुखोचितं विधि रघु०, ५.७६। १९ वही, १.५६; कुमा०, ८.४७, ५०; शाकु०, ३.२४। २० कुमा०, ८.४७।

क्रिया' होती थी जब पानीमें[1] 'तिल' भी मिला होता था। शास्त्रोंने[2] पूजाकी जो विधियाँ लिखी हैं उनका पालन[3] किया जाता था।

उक्त बातोंके सिवा हम कालिदासके ग्रन्थोंमें अनुष्ठानों[4] और व्रतोंके[5] सम्बन्धमें भी पढ़ते हैं। अनुष्ठान अन्य अर्थोंके साथ एक यह भी अर्थ रखता था—उपवास और आहुतियाँ देनेके साथ-साथ कुछ निश्चित समय तक निश्चित वार वैदिक मंत्रोंका जप करना। किसी भयानक आगन्तुक विपत्तिको टालने, रुग्ण व्यक्तिके स्वास्थ्य-लाभ और किसी उद्देश्यकी सिद्धिके अर्थ अनुष्ठान किया जाता था। अनुष्ठानके लिए साधारणतया गृहका कोई भाग पृथक् कर लिया जाता। उसको 'मंगलगृह'[6] कहते और इसमें अग्न्यगार भी सम्मिलित हो सकता था जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

अनुष्ठान

व्रत सामान्यतया रखे जाते थे। उनका मुख्य अंग था उपवास[7] और उपवास-कालमें कुछ संस्कार-विशिष्टका अनुष्ठान चलता था। स्वल्पाहार पारणाके[8] द्वारा व्रत तोड़ा जाता था जब ब्राह्मण-भोज होता और उनको दक्षिणा[9] दी जाती थी। प्रतिज्ञा पूरी होने या विशिष्ट धार्मिक त्योहारों पर व्रत रखे जाते थे। स्त्री व्रताचरणके समय शुक्ल वसन तथा अनिवार्य आभूषण धारण करती और अपने केश-पाशमें[10] दूर्वा-दल खोंसती थी। पतिका वियोग पत्नीके जीवनको व्रतमय बना देता। उसके वस्त्र मलिन हो जाते और अलकावलि मूखी एवं भद्दी[11] पड़ जाती थी। हम एक पत्नीका

व्रत

---

१ तिलोदकं शाकु०, पृ० ९४; भी जलाञ्जलि रघु०, ८.६८। २ शास्त्रदृष्टं रघु०, ५.७६; विधिविदो कुमा०, ८.४७। ३ वही। ४ माल०, अंक ५। ५ शाकु०, ७.२१; विक्र०, ३.१२, वही, पृ० ७४, ७७। ६ माल०, पृ० ८८। ७ शाकु०, पृ० ८१; रघु०, ८.९४। ८ रघु०, २.३९, ५५। ९ स्वस्तिवाचनं विक्र०, ३। १० विक्र०, ३.१२। ११ शाकु०, ७.२१।

अपने पतिको[1] प्रसन्न करनेके लिए व्रत-पालन करनेका प्रकरण भी पढ़ते हैं। (प्रियप्रसादनव्रतम्)। कुछ लोग 'प्रायोपवेश'का[2] मारक व्रत रखते थे जो उपवास-द्वारा धीरे-धीरे मृत्युके मुखमें कवलित होना था। यह अवश्य ही जैनियोंके धार्मिक आत्म-घातके समान कुछ था। दिलीप के गोव्रतका[3] वर्णन बड़े उत्साहसे कालिदास करते हैं। गो-भक्ति कवि-कालकी विशेषता थी और धर्मशास्त्रोंने उसे श्रद्धान्वित परिक्रमाका पात्र बना रखा था। कामकी प्रेरणासे बचते हुए एक ही शय्यापर युवती पत्नीके साथ शयन[4] करना कदाचित् 'असिधाराव्रत'[5] कहलाता था। यह भी कठिन कार्य समझा जाता होगा।

यहाँ हम उन धार्मिक त्योहारोंका संक्षिप्त उल्लेख कर सकते हैं जब कुछ देवताओंकी पूजा होती थी। इन्द्रधनुषके पहले पहल दिखाई देने पर इन्द्रके सम्मानमें पुरुहूतका[6] त्योहार होता था। भाद्रपदके शुक्ल पक्षकी अष्टमीसे द्वादशी पर्यन्त पाँच दिनों तक यह त्योहार मनाया जाता था।

धार्मिक त्योहार
पुरुहूत

काले इस त्योहारका इस प्रकार वर्णन करता है—"इस त्योहारकी मुख्य बात है एक ध्वज-युक्त स्तम्भ खड़ा करना। उसका आकार—गजाकारं चतुःस्तम्भं पुरद्वारे प्रतिष्ठितम्। पौराः कुर्वन्ति शरदि पुरहूतमहोत्सवम्। पुरुहूत, पुरहूतध्वज वह है जिसका आवाहन बहुतसे लोग रक्षाके लिए या यज्ञ में किया करते हैं। आरम्भमें पुरुहूतभुजसे इन्द्रधनुष्का बोध होता था जो नवागत अथवा विदा होते बादलोंके ध्वज होनेके कारण वर्षाके देवता इन्द्रकी प्रतिष्ठामें सम्मानित किया जाता था।"[7]

दूरवर्त्ती पतिकी मंगल-कामनाके लिए काकबलि[8] दी जाती थी।

---

१ विक्र०, पृ० ७४, ७७। २ रघु०, ८.९४। ३ वही, २ २५। ४ रघु०, १०.४१, १३.६७। ५ यत्रैकशयनस्यापि प्रमदा नोपभुज्यते। असिधाराव्रतं तं वै व दन्ति मुनिपुंगवाः॥ यादव। ६ रघु०, ४.३। ७ रघुवंश, ४ पर टिप्पणी ३। ८ मेघ० पू०, २२.२४।

जितने दिनों तक पतिके प्रवासमें रहनेकी सम्भावना होती उतने पुष्पोंको पत्नी ऊपर लटकाती थी। तब वह उनको एक-एक करके उन दिनोंकी संख्या निश्चित करनेके लिए सहन पर फेंकती जिनको उसने अकेला बिताया था।

काकबलि

वसन्तागमन पर प्रेम-देवता कामदेवकी प्रतिष्ठामें, जिसकी पूजा आम्र-मंजरियोंसे[1] की जाती थी, ऋतूत्सव[2] या वसन्तोत्सव मनाया जाता था। मोदक-वितरण[3] इस उत्सवकी विशेषता था। इस उत्सवने आजकल होलीका रूप धारण कर लिया है जब सब अवस्थाके लोग आपसमें हँसी-मजाक करते हैं, विशेषकर एक-दूसरे पर रंग छोड़कर जैसा कि 'रत्नावलि'में वर्णन आया है। नाटकके अभिनयकी स्थापना करके भी ऋतूत्सव या वसन्तोत्सव मनाया जाता था। मालविकाग्निमित्र पहले ऐसे ही एक अवसर पर[4] अभिनीत हुआ था।

ऋतूत्सव

पूर्णिमाके दिन लोग (जनता) खुले मैदानोंमें जा डूबते सूर्य तथा उगते चन्द्रमाके[5] दृश्योंका आनन्द लेते हुए इस उत्सवको मनाते थे। यह मुख्यतया एक सामाजिक उत्सव था।

पौर्णमासी

सजावटोंके साथ उत्सव मनाये जाते थे। उत्सवका बाह्य रूप तोरण,[6] चैत्र ध्वज,[7] चित्रकारियाँ[8] आदि जैसे मांगलिक द्रव्योंसे गृहों तथा नगरको सजाना था। रामके[9] राज्याभिषेकके समय अयोध्या, पार्वतीके साथ शिवके विवाहके अवसरपर हिमालयका काल्पनिक नगर ओषधिप्रस्थ[10]

---

१ रघु०, ९.४६; शाकु, पृ० १८९, ११२, माल०, पृ० २। २ शाकु०, पृ० १९१। ३ माल० पृ० ४८। ४ माल०, पृ० २। ५ रघु०, ११.८२। ६ वही, ७.४; मेघ० उ०, १२; कुमा०, ७.३। ७ ध्वजं रघु०, ७.४; कुमा०, ७। ८ मेघ० उ०, १२। ९ रघु०, १२.३। १० कुमा०, ७ ३।

और विदर्भकी राजधानी कुण्डिनपुर,[1] ये सभी सुसज्जित थे। दरवाजोंके सामने स्तम्भोंसे और दीवारोंके[2] साथ बँधी एक रस्सीसे लटकती हुई पत्तियोंकी पंक्ति 'तोरण' थी। जिस सड़कसे होकर जुलूस जाता था उस पर यह फाटक या महराबोंके[3] रूपमें भी बनाया जाता था।

तीर्थ-स्थानोंमें[4] जाना एक आवश्यक धार्मिक कृत्य था। तीर्थ-भूमि में स्नान करनेसे स्नान करनेवालेके पाप धुल जाते और उनको पुण्यकी प्राप्ति होती है, ऐसी धारणा प्रचलित थी।

तीर्थाटन

किसी पवित्र नदीके किनारे या उसके आस-पास तीर्थ-स्थान सामान्यतः निश्चित किये जाते थे। शाकुन्तलका[5] 'शची-तीर्थ' इसी प्रकारका एक तीर्थ-स्थान था और ऐसे ही थे गंगा-यमुना[6] तथा गंगा-सरयूके[7] संगम। शकुन्तलाकी ग्रह-शान्तिके लिए कण्व सोमतीर्थ[8] (प्रभास) को जाते हैं। दूसरे तीर्थ-स्थान थे—गोकर्ण,[9] पुष्कर[10] और अप्सरस्तीर्थ।[11] तमसाके किनारे तपस्वियोंकी[12] भरमार थी, अतः वह तीर्थ-स्थान बन गयी थी। इन तीर्थोंमें एक बार स्नान करनेसे आत्माको पुनर्जन्मके[13] चक्करसे मुक्ति और देवपद तथा देव-शरीरकी[14] प्राप्ति संभव होना समझा जाता था। राजाके राज्याभिषेक[15]के समय उसके अभिषेकके लिए तीर्थस्थानोंसे लाये गये जलका प्रयोग होता था।

---

१ रघु०, ७.४। २ वही, मेघ० उ०, १२। ३ रघु०, ७.४; मेघ० उ०, १२। ४ रघु०, ५.८, ६.६५, ११.४, ७, कुमा०, ६.५६। शाकु०, पृ० २२, १७२, १८२, २०६, २६०, ५.३०। ५ पृ० १७२, २०५। ६ रघु०, १३.५४–५७; गंगायमुनयोः संगमे विक्र०, पृ० १२१। ७ रघु०, ८.९५। ८ शाकु०, पृ० २२। ९ रघु०, ८.३३। १० वही, १८.३१। ११ शाकु०, ५.३०, पृ० ८८, २६०। १२ तपस्विगाढ़ां तमसा रघु०, ९.७२। १३ वही, १३.५८। १४ वही, ८.९५। १५ वही १४.७।

अब हम लोगोंमें प्रचलित लोक-श्रद्धा और मिथ्या विश्वासों पर विचार करें। शकुनों और मिथ्या विश्वासोंमें अन्ध भक्ति सभी आदिम जातियोंकी कमज़ोरी थी और कालिदासके समयके भारतीय इस नियमके अपवाद नहीं थे। कालिदास कहते हैं कि दाहिनी[1] आँख का फड़कना स्त्रियोंके लिए अशुभ और बायीं[2] का फड़कना शुभ समझा जाता था। उसी प्रकार दक्षिण[3] भुजाका फड़कना पुरुषके लिए शुभ था और उसके लिए लाभ-प्रद था।

लोक-श्रद्धा और मिथ्या विश्वास

शृगालोंका बोलना अपशकुन[4] था और इस अपशकुनका दोष दूर करनेके लिए हाथमें लिया कार्य स्थगित कर दिया जाता था। उसी प्रकार एक गीध बड़ा अमंगलकारी पक्षी था और जिस सेनाकी ध्वजाओंपर वह मड़राता[5] उसपर आपत्ति टूट पड़नेकी सम्भावना थी।

बच्चे और पुरुष क्रमशः रक्षाके[6] लिए तावीज़ और विजयके[7] लिए जंतर पहना करते थे। एक भाँतिकी तावीज़ एक प्रकारका एक लोलक था जिसके भीतर यान्त्रिक गुणोंवाली कोई बूटी[8] (अपराजिता) होती थी और यह भूत-प्रेत या कुदृष्टिसे बचनेके लिए कलाईपर बाँधी जाती थी। अपराजिता एक लता है और वनस्पति-शास्त्रमें इसे 'क्लिटोरिस टर्नेट' कहते हैं। इस कवचके धारण करनेवाले बच्चेको यदि कोई अयोग्य व्यक्ति छू दे, तो यह तत्क्षण साँप बनकर उसे[9] काट लेता समझा जाता था (सर्पो भूत्वा दशति)।

यह विश्वास किया जाता था कि जिसने जादू या तिरस्करिणी[10] विद्या की सिद्धि की थी और इस प्रकार अदृश्य रहनेकी शक्ति प्राप्त की थी, वह

---

१ शाकु०, पृ० १५१। २ माल०, पृ० ६२। ३ शाकु०, ७;, विक्र०, ३.९। ४ रघु०, १६·१२। ५ वही, ११.२६। ६ रक्षाकरण्डकं शाकु०, पृ० २४८। ७ जयश्रियः वलयः रघु०, १६.७४; जैत्राभरणं वही, ८३। ८ शाकु०, पृ०, २४९। ९ वही, पृ० २४९। १० विक्र०, पृ० ४१, ४७, ४६, ७२; शाकु०, पृ० १८६।

अपने स्थानमें रहते हुए भी सहसा सबकी आँखोंमें अदृश्य हो सकता था। 'अपराजिता'[1] नामकी एक शिखाबन्धन-विद्याके सम्बन्धमें हमें पाठ मिलता है। एम० पी० पण्डित कहते हैं, "इसका यह भाव मालूम पड़ता है कि उन्हें कुछ ऐसे जादूके मंत्र सिखा दिये जाते थे जिनका वे जाप किया करते थे और जब वे जाप करते थे तो वे अपने बालोंको बाँध लेते थे। जब तक केश-बन्धन निर्विघ्न रहता देवताओंके शत्रुओंके उत्पातसे वे बचे रहते थे। शरीरके अंग-विशेषको मंत्रोंसे बाँधनेका आज भी अभ्यास होता है और इस विश्वासके साथ बालोंको इकट्ठा कर एक गाँठ लगाना या भुजामें सूत्र बाँधनेके समान इससे सूत्र लपेटना शिखाबन्धन हो सकता है। इस विद्याको बृहस्पतिने अप्सराओंको सिखाया था, ऐसा प्रतीत होता है।"[2]

हस्त-रेखाओंको जीवनकी प्रत्येक घटनाकी पूर्व-सूचना देनेवाले ब्रह्माके लेखके रूपमें माननेके विश्वासका भी उल्लेख हुआ है[3] और हम इससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सामुद्रिक तत्कालीन प्रचलित विश्वास का एक काल्पनिक शास्त्र था। फलित ज्योतिष—शुभ या अशुभ ग्रहके निकट या दूर रहनेसे मनुष्यके भाग्यपर होने वाले प्रभाव—में विश्वास का भी उल्लेख[4] कविने किया है। ऐसा विश्वास किया जाता था कि हंसका स्वाभाविक गुण है, दूधसे[5] पानीको पृथक् कर देना।

एक स्थलपर सर्वसाधारणका यह विश्वास संकेतित हुआ है कि जिस कृपणका हृदय उसके सारे जीवनमें उसके धन-कोषमें लगा रहा है, मृत्यू-परान्त उसको सर्पकी योनि प्राप्त होती है और वह जमीनमें[6] गड़े कोषकी रक्षा करता है जिसमें कोई बिना अपने जीवनको आपत्तिमें डाले उसका

---

१ वही, पृ० ४०। २ एम० पी० पण्डित, विक्रमोर्वशीय, अंक-२ के तद्विषय वाक्योंकी टिप्पणी। ३ कुमा०, ५.५८। ४ माल०, पृ० ७१। ५ शाकु०, ६.२८। ६ वही।

स्पर्श नहीं कर सके। वन-कोषका इस प्रकार रक्षा किया जाना एक बहुत प्राचीन विश्वास है और इस विश्वासके पीछे साँपोंका पातालमें रहना और खजानोंका ज़मीनमें गाड़ा जाना ही रहा होगा। बुद्धके शरीरावशेष रखनेवाला रमपुरवका स्तूप सर्पोंसे रक्षित होता था, जिसके बहुसंख्यक शिल्पीय व्यक्तीकरण मथुरा संग्रहालयमें हैं।

यह सर्वमान्य विश्वास था कि एक सपेरा मंत्रके घेरेके भीतर एक करैतको लाचार[1] कर बन्दी बना ले सकता है। ऐसा आज भी माना जाता है। उदकुम्भ-विधान[2] नामक एक संस्कार-द्वारा सर्प-दंशको अच्छा करनेकी चेष्टा की जाती थी। टीकामें भैरवतंत्रसे उद्धृत उद्धरणमें विशिष्ट प्रकारसे अभिमंत्रित जल-कुम्भसे अभिमंत्रित जलका प्रयोग कर सर्पदंशके दोष दूर करनेके संस्कारका सविस्तार विवरण मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई वस्तु जिसपर सर्पकी आकृति अंकित थी विधिवत् अभिमंत्रित थी और वह विषघ्नी समझी जाती थी। इसी विधिसे मालविकाग्निमित्रमें विदूषकके छल किये सर्प-दंशका उपचार करनेका प्रयत्न किया जाता है। विदूषककी इस उक्तिसे यह एक साधारण धारणा-सी प्रतीत होती है कि जो कोई किसी रोगके होनेका बहाना करता है उसको इसके दण्ड-स्वरूप भाग्यवश वही रोग भुगतना पड़ता है और उसका यह सौभाग्य है कि वह थोड़ा भयभीत होकर छल करनेके दण्डसे बच गया है—"तथापि मैं समझता हूँ, छल किये सर्प-दंशका दण्ड मैं भोग चुका।"[3]

दैवज्ञ या दैवचिन्तक[4] लोगोंके भाग्यकी भविष्यवाणी करनेकी योग्यता रखनेवाले समझे जाते थे। वे राजसभामें रहते प्रतीत होते हैं और 'अर्थशास्त्र'[5] के विधानके अनुसार राज्यके अन्य अधिकारियोंके सदृश नियमित वेतन पाते थे।

---

१ रघु०, २.३२। २ माल०, पृ० ६६। ३ वही, पृ० ८२। ४ वही, पृ० ७१। ५ खंड ५ अध्याय ३।

यह विश्वास किया जाता था कि दुर्दैव ग्रह-शान्तिसे[१] शान्त हो जाता है। हम प्रेतकी[२] चलती छाया, प्रेत बाधासे[३] अभिभूत गृह और प्रेताक्रान्त व्यक्तियोंके सम्बन्धमें[४] पढ़ते हैं।

यह प्रचलित लोक-विश्वास था कि भूत-विद्याके द्वारा प्राप्त शक्तियाँ आश्चर्यजनक कार्य कर सकती हैं। अणिमा, लघिमा आदि[५] सिद्धियाँ इन्हीं शक्तियोंके नाम थे और इनके द्वारा आकाश[६]-मार्गसे जाया जा सकता था। योगाभ्यासके[७] द्वारा बन्द कमरेमें प्रविष्ट होना सम्भव समझा जाता था।

अधिकांश पौराणिक परम्पराएँ और काल्पनिक कथाएँ प्रचलित थीं। इस प्रकार सगरके अश्वमेधके अश्व और कपिल[८] मुनिकी कथा, घटसे[९] अगस्त्यकी उत्पत्ति, विष्णुके[१०] पद-नखसे गंगाका जन्म और भगीरथ[११] के प्रयत्नसे उसका शिवकी जटाओंसे निकलकर पृथ्वी पर आना लोक-प्रचलित विश्वास थे। ऐसे ही प्रचलित थे शिलावर्षक पर्वत,[१२] उड़नेवाले पहाड़,[१३] आकाशमें[१४] विचरण करनेवाले देवता, दिव्य अङ्ग-नाएँ,[१५] विष्णु-द्वारा[१६] बलिका छला जाना, विष्णुके[१७] एक अवतार महावराह-द्वारा पृथ्वीका उद्धार, इन्दुमतीके[१८] रूपमें हरिणीका जन्म, शमी-वृक्ष[१९] में अग्निका निवास और इसी प्रकारकी दूसरी कथाओं के अन्ध-विश्वास जो इस रचनामें अनेक स्थलों पर उल्लिखित हैं। पौराणिक कथाएँ इतनी लोक-गत हो गई थीं कि कवि उनका स्वच्छन्दतासे उपयोग करते थे और काव्यमय संकेतोंमें वे स्पष्टतया समझमें आ जाती थीं।

---

१ दैवमस्याः... सोमतीर्थं गतः शाकु०, पृ० २२। २ वही, ३.२४। ३ सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः वही, पृ० २२३। ४ संशयगतं वही। ५ वही, पृ० ३०। ६ विहायसा गत्वा वही; पृ० २६३। ७ रघु०, १६.७। ८ वही, ३.५०। ९ वही, ४, ५१। १० कुमा०, ६.७०। ११ रघु०, ४.३२ १२ वही, ४०। १३ कुमा०, १.२०। १४ वैमानिका रघु०, ६.१। १५ वही, २७ आदि। १६ वही, ७.३५। १७ वही, ५६। १८ वही, ८.७९–८२। १९ शाकु०, ४.३।

पुराणोंने जिन अभौतिक कहानियोंका प्रचार किया था उनमें उस युगके लोगोंका निस्सन्देह विश्वास था। उनमेंसे बहुतसे कविके कालमें सगृहीत हुई थीं। तांत्रिक मंत्रोंके उच्चारण और रहस्यमय कर्मकाण्डोंका निःसंकोच व्यवहार होता था। इस सम्बन्धमें समाजका जो चित्र कालिदासने चित्रित किया है वह महान् रोमांचकारी दशकुमारचरितके लेखक दण्डीके चित्रणसे बहुत कुछ मिलता है जो कालिदाससे बहुत पीछेका नहीं है।

निराशा और आशा वादोंके स्थितीकरणपर जीवनके प्रति दृष्टिकोण खड़ा था। यथार्थमें हिन्दू-समाजकी व्यवस्था परिस्थितियों तथा मूल्योंके समन्वययुक्त और संतुलित विधान पर आधारित है और अतः स्वभावतया दृष्टिकोणके सभी पहलू इनमें सरलतासे देखे जाते हैं।

जीवनके प्रति दृष्टिकोण

आश्रमोंमेंसे विशिष्टतया प्रथम दो अर्थात् ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्यकी व्यवस्था इन आश्रमोंके धर्मोंके पालन करनेवालोंको प्रगतिशील प्रयत्नोंको करनेकी भावनासे भर देती थी। और इस दृष्टिसे लोगोंका व्यवहार आशावादी समझा जा सकता है। यह भी ध्यानमें रखा जा सकता है कि जन-साधारणका जीवन सुखी, प्रसन्न और सन्तोषमय था। किन्तु जन्म लेनेको दुःख मानना जिससे मुक्तिकी खोज की जाती थी और घटनाओं तथा होनियोंके बाद भाग्यसे होनेमें विश्वास एक असहाय वस्तु स्थितिको स्वीकार करनेकी ओर संकेत करते हैं और इस पक्षमें दृष्टिकोण निराशावादी होनेकी ओर झुकता हुआ हो सकता है। यहां यह अवश्य मानना होगा कि यद्यपि तपस्वीवाद और संसारसे विरक्ति जीवनके प्रति इस प्रकारके दृष्टि-कोणके परिणाम हुए होंगे जिसको बौद्धोंके निराशावादसे बल प्राप्त हुआ होगा, तथापि मुनियोंके आश्रमोंका भी मुख्य अंग प्रयत्न था। आश्रम भी विशेषतया अन्तिम दो, यानी, वानप्रस्थ और संन्यास घृणा एवं दुःखके परिणाम नहीं थे किन्तु वे सुविचारित जीवन-लक्ष्यके फल थे जिसमें यह देख लिया जाता था कि जीवनका कोई भी अंग अपूर्ण न रह जाय।

तपस्वी[1] जीवन एक आदर्श जीवन माना जाता था जो अपवर्ग[2]-प्राप्तिके लिए आवश्यक था और कालिदास अपने सभी राजाओंको संसार-त्यागी बनाकर अरण्यकी एकान्ततामें रखते हैं। किन्तु वहाँ भी उनके भाग्यमे तीव्र कार्यव्यस्तता और कर्मठता ही रहती है। वहाँ तपस्वी आध्यात्मिक अभ्यासोंके द्वारा जन्मोंसे अपनी मुक्ति पानेका प्रयत्न करते और आश्रमोंमे एकत्रित युवकोंको विद्या-दान कर एक सुन्दर व्यवस्थाके सृजनमें दत्त-चित्त भी रहते थे। गुरुकुलोंके संचालक ब्राह्मण व्यवस्थापक थे। वही वे अपने कर्मोंको ज्ञानाग्निमें[3] भस्मसात् और योगाभ्यास करते थे।

हमे कालिदासके ग्रन्थोंमें तपस्वियोंके[4] अनेक भेद पढनेको मिलते हैं। अन्य बहुतसे प्रकारोंके सिवा जिनका कवि उल्लेख नही करता जटिल[5] साधक[6] और यतिके[7] नाम आते हैं। जटिल ऐसे मुनि थे जिनके सिरपर जटाएँ[8] लटकती थी। अनुष्ठान करनेवाले और अपने लक्ष्य साध्यकी प्राप्तिमें लगे रहनेवाले साधक थे। यति ऐसे तपस्वी थे मृत्यूपरान्त जिनके शवकी दाह-क्रिया नहीं की जाती थी, किन्तु वे पृथ्वीमें गाड दिये जाते थे।

तपस्वियोंके भेद

एक तपस्वीका परिधान और उसके[9] लिंग भिन्न-भिन्न थे। परिधान वल्कलका[10] होता था जिसको तपस्विनियाँ[11] भी धारण करती थी। शिवका

---

१ प्रव्रज्या रघु०, ७ ६; न्यास वही, १८। २ अपवर्ग वही, ८ १६। ३ वही, २०। ४ वही, १७, २५, ९.७६, वैखानस शाकु०, पृ० २१; रघु०, १३.८७; कुमा०, ५.२९, माल०, पृ० ९७। ५ रघु०, १३.७८। ६ विक्र०, ४। ७ रघु०, ८.२५; माल०, १.१४, पृ० ९७। ८ रघु०, १३, ५७; कुमा०, ३.४६, ५.९, ४७; शाकु०, ७ ११; विक्र०, ५.१९। ९ रघु०, ८१६। १० रघु०, १२.८, १४ ८२; कुमा०, ५.८, ३०, ४४; शाकु०, १ १७, पृ० २८, २.१२; विक्र०, पृ० १३५। ११ शाकु०, १ १७, २.१२; रघु०, १४.८२; ऋतु० ५.८, ४४।

परिवान गज-चर्म[१] कहा जाता है। जब कभी वस्त्रके परिवानका उपयोग किया जाता उसे कषाय[२] रंगमें रंजित कर लिया जाता था। मुँजकी रस्सीकी मेखला

परिवान आदि

बनती जिससे वह 'मौंजी'[३] कहलाती थी। वह कभी-कभी 'कुश'[४] की भी बनती थी। अक्षके बीज या रुद्राक्षसे[५] एक माला बना लेते थे और उसको कर्णफूलो,[६] वलय[७] माला और हारकी तरह पहनते थे। कभी-कभी शीशेकी गोलियाँ उँगलियोंके[८] लिए अक्षमालिका बनानेके काममें आती थीं। अजिन[९] और कुश आसनके प्रयोगमें आते थे। तपस्वीकी शय्या या तो कुश[१०] या खुली भूमि[११] थी। एक वर्गके तपस्वी—दण्डी दण्ड[१२] धारण करते थे। तपस्वीका एक आवश्यक चिह्न कमण्डलु भी था। तपोभूमिके निवासी अपने सिरमें[१३] लगाने और दीप[१४] जलानेके काममें इंगुदी-तैलको लाते थे।

तपस्वी[१५] तपश्चर्यामें निपुण थे। अपने तपोवनोंमें तपस्वी जिन कठोर तपोंका आचरण करते थे उनका वर्णन कालिदासने विशद रूपसे किया है। वर्णनोंसे ऐसा नहीं ज्ञात होता कि वे सभी आँखों देखी तपस्याओंके हैं। वे पुराणोंके आधारपर जिनमें तपश्चर्याओंकी भरमार है लिखी गई होंगी। 'शाकुन्तल' में मरीचिका वर्णन विशद है। मुनि समाधिमें ऐसे मग्न थे कि वे जहाँ बैठे थे वहाँ उनके मानवी शरीरको क्या हो रहा था उनको उसका कुछ

तपश्चर्या

१ कृत्तिवासा: कुमा०, १.५४। २ माल०, पृ० ६६। ३ कुमा०, ५.१०। ४ रघु०, ६.२१। ५ वही, १३.४३; कुमा०, ३.४६, ५.११,६३। ६ रघु०, १३.४३। ७ वही। ८ कुमा०, ५.६३। ९ रघु०, ६.२१; कुमा०, ५.३०। १० रघु०, ८.१८। ११ वही, १.९५। १२ स्थाण्डिल कुमा०, ५.१२। १३ रघु०, ६.२१। १४ शाकु०, पृ० २००; रघु०, १४.८१। १५ कुमा०, ५.६, १८, २५, २८, २९; शाकु०, पृ० २६२।

भी भान नहीं होता था। वृक्ष-स्कन्ध या स्तम्भके सदृश वे स्थिर थे। उनके शरीरके चारो ओर चीटोंने मिट्टी इकट्ठी कर रखी थी जिसमें उनका आधा शरीर गड़ गया था। उनकी छाती पर सर्प स्वतत्रतासे चलते और उनकी जटाओंमें[1] पक्षियोंने घोंसले बनाये थे। ग्रीष्म कालमें जब सूर्य पाँचवी[2] अग्निके रूपमें सिरपर चमक रहा हो चार अग्नियोंके बीच बैठना तपस्याका दूसरा प्रकार था। कुमारसम्भवमें उमा शिवको अपने पतिके रूपमें पानेके लिए तपश्चरण करती हुई ग्रीष्ममें अग्नियोंके भयानक ताप और धूपको अपने शरीर पर सहती है, शीत-कालमे वर्फके समान ठंडे जलमें लेटती है और वर्षा[3] ऋतुमे खुले चट्टानो पर सोती है। वह एक मौंजी[4] तगड़ी पहनती और अपनी उँगलियोंमे[5] अक्ष-माल लगाती है। पादपोंके[6] समान केवल जलाहार पर रहती और वल्कल[7] धारण करती हुई उसने अपने तपसे बड़े तपस्वियोंकी तपश्चर्याको भी लज्जित[8] कर दिया। उमाका तप तपश्चरणका यथार्थ रूप माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त हमें केवल दूर्वाको[9] खाकर रहनेवाले एक मुनि, सिरपर[10] जलते हुए सूर्यकी जलती हुई धूपमे लकड़ियोंसे लगातार प्रज्वलित चार अग्नियोंके बीच खड़े अपने कर्मोमें आत्म-सयमित दूसरे ऋषि और अपने एक हाथको सदा ऊपर उठाये तथा दूसरे हाथकी कलाई[11] पर रुद्राक्षकी माला लिये तीसरे तपस्वीके उल्लेख भी मिलते हैं। ऐसे ही एक तपस्वी के सम्बन्धमें कहा जाता है कि वह अपने शरीरको मत्रोंसे[12] शुद्ध कर पवित्र समिधाओंसे अभिमन्त्रित अग्निमे कूद पड़ता था। ऐसे भी तप करनेवाले थे जो नीचे सिर किये वृक्षोंकी डालियोंसे लटके रहते थे और उनकी आँखे आगके[13] धूमसे लाल हो जाती थी। इस प्रकार तपस्वी

---

१ शाकु०, ७.११। २ कुमा०, ५ २०; रघु०, १३.४१। ३ कुमा०, ५.२३२५। ४ वही, १०। ५ वही, १०। ६ वही, २२। ७ वही, ८, १६। ८ वही, २९। ९ रघु०, १३.३९। १० वही, ४१; मिलाकर ३। ११ वही, ४३। १२ वही, ४५। १३ वही, १५, ४६।

अपने उद्देश्योंकी[1] सिद्धिके लिए तपश्चरण किया करते थे। लोगोंकी ऐसी मान्यता थी कि तपके प्रभावसे भूत या भविष्यकी प्रत्येक बातको जाना और देखा[2] जा सकता है और तपस्वी अपने शापोंके द्वारा अपने अपराधियोंको दण्ड दे सकते हैं। किन्तु अन्य साधनोंकी विद्यमानतामें दण्डके लिए शापका प्रयोग तपस्याके[3] लिए हानिकर समझा जाता था। एक अद्विजातीको तप[4] करनेका अधिकार नहीं था। तपश्चरणके इन उदाहरणोंके होते हुए भी विचारशील व्यक्ति तपकी कठोरताको कम करनेके पक्षमें थे और उनका विचार था कि शरीर धर्मके[5] साधनमें परम आवश्यक है इसलिए इसको सुरक्षित रखना चाहिए। यथार्थमें, एक उल्लेखमें संकेत है कि शरीर, वाणी और विचार पर नैतिक नियंत्रण रखना ही तीन प्रकारका[6] तप है।

तपोवन

केवल वनके एकान्त आश्रमोंमें ही निर्विघ्न तपका अभ्यास किया जा सकता था। वहाँ समाजके कृत्रिम बन्धनोंका विशेष रूपसे अभाव था और कठोर नियमों तथा धार्मिक जीवनके कड़े विधि-विधानोंका पालन होता था। अरण्यके शान्तिपूर्ण वातावरणमें तपस्वियोंकी समाधिमें स्वयं प्रकृति सहायक थी। इन तपोवनोंके[7] एकान्त तथा शान्त जीवनका एक सांगोपांग वर्णन कालिदास उपस्थित करते हैं। शुकोंके[8] नीड़ोंसे गिरकर बिखरे वन्य तण्डुल, इंगुदीके फलोंको[9] तोड़नेके काममें आनेवाले तेलास पत्थरके टुकड़े, स्वतंत्रता और प्रेमके अभ्यस्त रथके[10] आनेपर सहज रूपसे खड़े हिरण

---

१ फलोदय कुमा०, ५.६। २ तपः शाकु०, पृ० २६२। ३ रघु०, १५.३। ४ द्विजेतरतपस्विसुतं वही, ६.७६। ५ शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् कुमा०, ५.३३। ६ रघु०, ५.५। ७ कुमा०, ३.२४, ५.१७; रघु०, २.१८, ११.१३; शाकु०, १.२८, पृ० ५२, २.७, पृ० १७४; विक्र०, पृ० १३५। ८ नीवाराः शुकगर्भकोटर-शाकु०, पृ० १.१३। ९ वही। १० वही।

पेड़की[1] शाखाओं पर लटकाये तपस्वियोंके वल्कलोंसे टपकती जल-बूँदें और वृक्षोंके[2] मूलोंको धोनेवाली पानीसे भरी संकीर्ण कृत्रिम नहरोंसे अनायास ही तपोवनका परिचय मिलता था।

दिवसके अवसान कालमें समिधा, कुश और फल-फूल[3] लिये वनके दूसरे भागोंसे लौटे हुए ऋषियोंसे तपोवन भर जाता था। पुष्प, समिधा और कुश आहरणका काम कदाचित् ऋषि-कुमारोंके[4] हाथोंमें समर्पित था। स्नेहके साथ पक्षियों तथा पशुओंकी देख-रेख[5] होती। बहुतसे हिरण पुत्र बन गये थे और उनका नामकरण[6] भी हुआ था। यदि कहीं चरते समय किसी हिरणके शरीरमें कुशसे क्षत हो जाता तो उस[7] पर इंगुदीका तेल लगाया जाता था। जिस प्रकार माँ बच्चोंको[8] खिलाती है उसी प्रकार ऋषि-पत्नियोंके हाथसे अपने ग्रास पानेके[9] लिए मृग उटजोंके द्वारोंको जा घेरते थे और तपोवनमें प्रायः मृगोंका जमघट बना रहा था। सूर्यास्तके पश्चात् आश्रमकी भूमिमें वेदीके[10] पास बैठकर मृग पागुर[11] करते थे। नीवार एकत्रित कर उटजोंके सामने ढेर[12] कर दिया जाता। आश्रमके वृक्षोंको बच्चोंके समान माना जाता और मुनि-कन्याएँ[13] उनको पटाती थी। उमा,[14] सीता[15] और शकुन्तलाने[16] छोटे-छोटे जल-कुम्भोंके[17] जलसे इन्हें पटाया था, ऐसा कहा जाता है।

---

१ वही, २८। २ रघु०, १.५१। ३ वही, १.४९; विक्र०, पृ० १२८। ४ पुष्पसमित्कुशनिमित्तं ऋषिकुमारकैः विक्र०, पृ० १२८। ५ शाकु०, १.१३, ४.१३; रघु०, १.५०, ५१ आदि। ६ स मे पुत्रकृतको दीर्घापांगो नाम मृग. शाकु०, पृ० १७३, ४.१३, ७ रघु०, १.५०। ८ वही, शाकु०, ४.१३, पृ० १७३। ९ रघु०, १.५२। १० वही, १४.७९। ११ वही। १२ मिलाकर वही, २.३६; कुमा०, ५.१४। १३ तपस्विकन्यकाः सेचनघटैः शाकु०, पृ० २५; मिलाकर रघु०, १४.७८; कुमा०, ५.१४। १४ कुमा०, ५.१४। १५ रघु०, १४ ७८। १६ शाकु०, पृ० २५। १७ रघु०, १४ ७८; कुमा०, ५ १४; शाकु०, पृ० २५।

मुनिको एक पर्णशाला (उटज,[1] पर्णशाला[2]) दी जाती जहाँ रात्रिमें इंगुदीके तेलका[3] दीपक जलता और आसनके[4] लिए मृग-चर्म या कुशकी[5] साथरी बिछी होती। ऐसे शान्त आश्रममें[6] आवश्यक संयमके साथ[7] अतिथि प्रवेश कर सकता था, क्योंकि यह 'धर्मारण्य'[8] था। आत्म-संयमके[9] अभ्यासी नम्रताके प्रतीक आश्रमवासी अतिथिका सम्मानपूर्वक अभ्यागत करते जब कि आहूतियोंके भारको वहन करता एकत्रित धूम नवागन्तुक को निष्पाप[10] बना देता। आश्रमके अतिथिका इस प्रकार सत्कार[11] होता।

अतिथि

अपने संयमित जीवन (शमप्रधान[12]) के लिए तपोवन प्रसिद्ध थे और उनका वातावरण एकान्त और शान्त था। अतः जब एक आश्रमवासी ने नगरमें पदार्पण किया तो वहाँ उसे ऐसी बिलकुल भिन्नता दिखाई पड़ी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह एक आगसे[13] जलते हुए गृहमें घुस आया है अथवा मानो स्नान करके शुद्ध शरीर वालेका किसी तेल लगाये व्यक्ति ने स्पर्श किया हो, स्वच्छता धूलिसे आक्रान्त हो और किसी स्वच्छन्दचारीके पैरोंमें जंजीरें[14] डाल दी गई हों। अतः प्रकृतितया जो व्यवहार उस आश्रमवासीके अयोग्य था उनकी निन्दा की गई। हिंसा एक अप्रिय वस्तु थी और अक्षम्य समझी जाती थी।[15] एक कठोर अनुशासनका पालन होता था और उसका उल्लंघन करने वाला तत्क्षण बहिष्कृत[16] किया जाता। पुरुरवाके पुत्र, एक छोटे लड़के आयुसने एक गृध्र पर शर-सन्धान कर उसे

---

१ रघु०, १.५०, १४.८१, १९.२; कुमा०, ५.१७। २ वही, १.९५। ३ वही, १४.८१। ४ वही। ५ वही, १.९५। ६ शान्तं शाकु०, १.१४; मिलाकर आश्रम वही, पृ० २३, ६५, ७.११; विक्र०, १२८। ७ विनीतवेषेण शाकु०, पृ० २४। ८ वही, १.२९। ९ रघु०, १.५५। १० वही, ५३। ११ वही, ५८, १४.८२; कुमा०, ५.३१; शाकु०, पृ० २१, २२। १२ शाकु०, २.७। १३ वही, ५.१०। १४ वही, ११। १५ आश्रमविरुद्धवृत्तिना शाकु०, ७.१८; मिलाकर विक्र०, पृ० १२८-१२९। १६ निर्यातमेनमुर्वशीहस्ते न्यासमिति वही, पृ० १२९।

मार डाला था। च्यवनने उनके अल्प वयन पर ध्यान दिये विना उनको आश्रमसे निकाल दिया।

कालिदासने बहुसंख्यक प्राचीन तपोवनोका उल्लेख किया है। गंगाके[1] तट पर फैले हुए तपोवनोंका वर्णन हम पढते है। कविने मुनियोंके जिन आश्रमोके नाम लिखे है उनमें थे—वाल्मीकि,[2] वशिष्ठ,[3] (मालिनीपर[4]) कण्व, च्यवन,[5] अगस्त,[6] शातकर्णी,[7] शरभग,[8] मरीचि[9] और ऐसे ही अन्य मुनियोंके अपने आश्रम।

कालिदासके बहुत पूर्व धार्मिक सम्प्रदायोका उदय हो चुका था और वैष्णव तथा शैव दोनो सम्प्रदायोकी देशमें धूम थी। प्रसिद्ध व्यक्तिगत

धार्मिक सम्प्रदाय

देवताओके प्रकरणमें हमने पहले ही भागवत, पाशुपत और दूसरे धर्मोका विवेचन किया है। यद्यपि कविने बौद्ध धर्मका प्रत्यक्ष उल्लेख नही किया है, तथापि एक समकालीन चीनी यात्री फाहियानके[10] लेखोंमे बौद्ध-धर्मका अस्तित्व प्रमाणित होता है।

ब्रह्माके द्वारा सृष्टि (सृष्टि,[11] सर्ग[12]) की रचना माननेके विश्वास का उल्लेख हम कर आये है। यहां हम सृष्टिके मूलके विषय पर विचार

सृष्टि-रचना

करें और उसके कुछ अन्य गुणोका भी पर्यवेक्षण करें। सृष्टि ससार, जगत् तथा जन्म और मरणके रूपमें निरन्तर परिवर्तनशीलताके बोधक इसके अन्य पर्यायोंके नामसे विविध प्रकार पुकारा जाता रहा है। कल्पान्तमें[13] ब्रह्मा सृष्टिकी रचना और सहार करनेवाला माना जाता है। कल्प, जो ब्रह्माके एक

---

१ रघु०, १४.२८। २ वही, ७५-८२। ३ वही, १.३५, ४८। ४ शाकु०, पृ० २१। ५ विक्र०, पृ० १२८-१२९। ६ रघु०, १३.३६। ७ वही, ३८। ८ वही, ४५। ९ शाकु०, पृ० २३८। १० जेम्स लेगे; फाहियान्स रेकार्ड आफ वुद्धिस्टिक किङ्गडम, (पूरे कार्य)। ११ कुमा०, २.४, ६.७, ८, १०। १२ वही, ६.७। १३ रघु०, ७.५६; कुमा०, २०८।

दिनके बराबर है, एक सहस्र चतुर्युगी, यानी, हमारे तेंतालीस करोड़ बीस लाख वर्षोंके काल-मान वाला है अर्थात् यह काल सृष्टिके अस्तित्वका है। इसका काल-विस्तारके पश्चात् उतने ही समयकी रात्रि आती है जिसमें जगत्का लय हो जाता है और सारी सृष्टि जलमग्न हो जाती है, प्रलयका साम्राज्य छा जाता है। प्रलय-रात्रिमे जगत्का स्वामी विष्णु सागरमें शेष पर सोता है जब तक निशाका अवसान नही होता। प्रातः होनेपर सृष्टिकी फिर रचना होती है और एक नये कल्पका आरम्भ होता है। ऐसा माना जाता है कि भगवान् विष्णुने घोराकृति शूकरके रूपमें अपने थूथनपर[१] सागर-मग्न पृथ्वीको ऊपर उठा निकाला।

कालिदास सृष्टिके सात लोकोका[२] उल्लेख करते है जो, एकके ऊपर दूसरे, स्थित है। तथापि वे उनके नामोल्लेख नही करते। किन्तु परम्परामे उनकी गिनती इस प्रकार है—पृथ्वी, अन्तरिक्ष, मुनि और सिद्धोका लोक, सूर्यके ऊपर या सूर्य अथवा ध्रुवके मध्य इन्द्रका स्वर्ग, ध्रुवके ऊर्ध्व प्रदेश और भृगु तथा अन्य दिव्य ऋषियोका लोक जो नीचेके तीनो लोकोंके सहारके बाद भी सजीव रहते है—इसीको ब्रह्म-पुत्रोकी निवास-भूमि, देवतुल्य मुनियोका वास-स्थान और ब्रह्मलोक कहते है। ब्रह्मा, जिसका एकीकरण यहाँ विष्णुसे[३] किया गया है, उक्त सभी लोको का धारण[४] करनेवाला है।

कालिदासने मृत्युके सिद्धान्त-सम्बन्धी कुछ घटनाओका सकेत किया है, हम उनपर विचार करेंगे। हम सर्वप्रथम आत्मा तथा पुनर्जन्मकी

मृत्युका सिद्धान्त

चर्चा करेंगे। जीवनकी पूर्व अवस्थाओंकी घटनाओंकी धुंधली स्मृतियाँ कभी-कभी सिर खाती[५] समझी जाती है।

---

१ वही; कुमा०, ६.८। २ रघु०, १०.२१। ३ वही, २०.२२। ४ कुमा०, २.६–८। ५ रघु०, १.२०।

आत्मा और उसका पुनर्जन्म

जन्मोंकी[1] शृङ्खला आत्माका पुनर्जन्म है और सभी हिन्दू दर्शनोंका मुख्य सिद्धान्त है। आत्मा, जिसका उल्लेख कवि अपने वर्णनोंमें बहुलता से करता है, सांख्यकारिका[2] के द्वारा साक्षी, केवल, पार्श्ववर्त्ती, द्रष्टा, अक्रिय और भगवद्-[3] गीताके शब्दोंमें अनादि तथा अविनाशी कहा गया है। हिन्दू दर्शनके समस्त अनुमान आध्यात्मिक विवेचनाओंका इसको आधार बनाते हुए इसको लेकर ही आरम्भ होते हैं। सभी ब्राह्मण या बौद्ध दार्शनिक कल्पनाएँ इस प्रश्नका उत्तर देनेकी खोजमें हैं—आवागमन से मुक्ति कैसे मिलेगी? जन्मोंके क्रमका अवश्य अन्त होना चाहिए। आत्माको, जो इस कायाकी कारामें बन्द पड़ा है, अवश्य बन्धन-मुक्त होना चाहिए। क्षणभंगुर असत्य शरीरकी गति अवश्य बन्द होनी चाहिए और अनिर्वचनीय आनन्दकी अवस्थाकी उपलब्धिके लिए आत्माको अवश्य शरीरबन्धनसे मुक्त[4] करना चाहिए। जब तक सारे अच्छे या बुरे कर्म, यानी, उनके फल भस्मसात्[5] नहीं किये जाते शरीर-बन्धनसे छुटकारा सम्भव नहीं। इन्दुमतीके लिए क्रन्दन करते और उसको फिर पानेके लिए आत्मघात करनेको सोचते हुए अजको वशिष्ठका शिष्य इस प्रकार मना करता है—यदि तुम उसके लिए मृत्युका आलिंगन करो तो भी तुम उसके अधिकारी नहीं हो सकते, क्योंकि परलोकमें गमन करनेवालोंके रास्ते उनके कर्मोंके[6] अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्तु कवि इसपर बल देता है कि तत्त्वज्ञानसे[7] रहित होता हुआ भी यदि कोई गंगा और यमुनाके संगम पर स्नान करता है तो उसके लिए 'शरीरबन्धन' नहीं है। कविके कालमें लोगोंके मस्तिष्कमें परलोककी[8] भावना बराबर जागृत थी।

१ जन्मान्तर वही, ७.१५, प्रथमजन्मचेष्टितानि ११.२२, मिलाकर
१.२०; १८.५०; शाकु०, ४१। २ श्लोक १९। ३ २.१७—२५ …
४ रघु०, १३.५८। ५ वही, ८.२०; मिलाकर वेदान्तसूत्र ४. …
१३, १४। ६ रघु०, ८.८५। ७ वही, १३.५८। ८ वही, ४ …
८५; कुमा०, ४.१०, २८; रघु०, १.६६।

कालिदासने वाक्यांश संस्कारका विभिन्न अर्थोंमें प्रयोग किया है अर्थात् चिकना करने,[1] व्याकरणकी शुद्धता,[2] मानसिक[3] विकास आदिके अर्थोंमें। पूर्व जन्ममें[4] किसी व्यक्तिके द्वारा किये गये अच्छे या बुरे कर्मोंके प्रभावके लिए भी वे संस्कार शब्दका प्रयोग करते हैं। ऐसे प्रभाव, संस्कार इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि वे उनके करनेवाले व्यक्तिके आत्मासे उसी प्रकार चिपटे रहते हैं जिस प्रकार कस्तूरी-जैसी वस्तुकी गन्ध (वासना) जो कस्तूरीके अलग हो जाने पर भी वस्त्रमें पड़ी रहती है। बिना सिखाये नव-जात शिशुका अपनी माँके स्तनोंका पान करनेकी चेष्टा करना इस विषयका उदाहरण कहा जाता है।

मृत्यु

मृत्यु चेतन प्राणियोंका स्वभाव समझी जाती थी।[5] जीवन पूर्णतासे विकृत अवस्था था, मृत्यु स्वाभाविक और सामान्य थी और जीवन अस्वाभाविक तथा असामान्य।[6] यह कहा गया है कि आत्माके जीवनका अन्तिम निराकरण मृत्यु नहीं है, किन्तु उसकी निद्रा, लम्बी नींद (दीर्घनिद्रा)[7] है। जन्मोंकी शृङ्खला और जीवात्माके आवागमनके सिद्धान्तके अनुकूल ही यह विचार है केवल विमूढ़ ही किसी प्रिय जनके देहावसानको मर्मभेदी शूल मान सकते थे, किन्तु निश्चयात्मा उसको शूलका निकालना समझते थे क्योंकि उससे ब्रह्मानन्द[8] का द्वार खुल पडता था। ऐसा कहा जाता था कि सम्बन्धियों के आँसूका अविरल प्रवाह परलोकवासी आत्माकी[9] पीड़ाका कारण था। उत्तर दिशाका अधिपति ग्रीकोंका प्लुटो, यमराज परलोक निवासियों का देवता और नरकका स्वामी माना जाता था।

---

१ रघु०, ३.१८। २ वही, १५.७६; कुमा०, १.२८। ३ रघु०, ३.३५; कुमा०, ७.७४। ४ रघु०, १.२०। ५ वही, २.५७। ६ मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः वही, ८.८७। ७ वही, १२.८१। ८ वही, ८८। ९ वही, ८६।

इस प्रकार मृत्यूपरान्त एक जीवन था। हम 'लोकान्तर'[1] तथा परलोकके[2] सम्बन्धमे पढते हैं जो मृत्युके बाद विशिष्ट लोकमे आत्मा (प्रेत)[3] के अतित्वका अर्थ बोध कराता है।

परलोक जीवन

अच्छे और बुरे कर्मोके फलस्वरूप 'स्वर्ग' और 'नरक' की धारणा बहुत पूर्व जन्म ले चुकी थी। पुण्य कार्योंमे मनुष्यको स्वर्ग[4] दिलानेकी आशा की जाती थी जहाँ सुर-सुन्दरियाँ उसका[5] अभिनन्दन करती और उसको देवताओंकी[6] मण्डलीमें स्थान मिलता था। इन पुण्य-कर्मोमे पवित्र नदियोंके[7] सगमपर स्नान और युद्धमे[8] मरना भी सम्मिलित था। स्वर्गका दूसरा नाम विष्णु-लोक (वैष्णवानां धाम)[9] भी था। जो आत्माएँ स्वर्गमे प्रवेश नही पा सकती पितरोंके दिव्यावास 'पितृलोक' में जाती हैं। सप्त लोकोका वर्णन अन्यत्र दिया जा चुका है।

मरे हुए पूर्वज 'पितृ'[10] कहलाते हैं। वे एक विशिष्ट लोकमे निवास करते हैं। मरे हुए पूर्वजोके साथ एक मनुष्यके सम्बन्धकी हिन्दू-धारणा पहलेका दूसरेके ऊपर ऋण के रूपमे है। हिन्दू-पुरुषके सिरपर तीन प्रकार के ऋण होते हैं, यानी, ऋषि-ऋण[11] जिससे वह वेदोंका अध्ययन कर उऋण होता है, देव-ऋण[12] जिससे मुक्तिके लिए यज्ञो तथा धार्मिक कृत्योका करना आवश्यक है और पुत्रोत्पत्तिके द्वारा उऋण होने योग्य पितृ-ऋण। तीनो ऋणोमे पितृ-ऋण[13] अन्तिम था इस कारण वह 'अन्तिम ऋण'[14] के नामसे भी अभिहित होता था। इसका भाव था कि एकको जो कुछ

---

१ वही, १.६९। २ वही, ८.४९, ८५; कुमा०, ४.१०, ३८। ३ रघु०, ११.१६; कुमा०, ५.६८। ४ रघु०, ११.८७, १५.२९; कुमा०, ६.३७; मेघ० पू० ३०। ५ रघु०, ७.५३। ६ वही, ५१, ८.९५। ७ वही, ८.९५, १३.५८। ८ वही, ७.५१-५३। ९ वही, ११.८५। १० वही, १.६७, ७१, ५८, ६.२०, ७.३०, १२.६१; शाकु०, ६ २४, २५। ११ रघु०, ८.३०। १२ वही। १३ वही, १.७१, ६.२०। १४ वही, १७१।

मिला था उसे वह आगे बढ़ा दे। मनुष्यको एक जीवन मिलता है, अतएव उसे अवश्य पुत्र उत्पन्न कर अपने वंशको चलाना चाहिए। इसीलिए हिन्दुओ में विवाह-संस्कार अनिवार्य है। पितरोको 'पिण्डभाजा'[१] पिण्ड लेनेवाले कहा गया है। पिता, पितामह और प्रपितामहको पितरकी संज्ञा है। पिताकी मृत्यु और उसके निधन-दिवसपर जो पिण्ड-दानक्रिया होती थी, 'पितृक्रिया'[२] या श्राद्ध कहलाती थी। मृतककी आत्माको शान्ति पहुँचानेके लिए ये पिण्डदान आवश्यक थे। केवल पुत्र ही पिण्डदानका अधिकारी था जिसकी अनुपस्थितिमें पूर्वज अपना भोजन नही लेते। दुष्यन्त[३] और दिलीप[४] दोनो एक रूपसे अपनी पुत्र-हीनता तथा उसके परिणामोके लिए पश्चात्ताप करते है।

तपोवनोके वर्णन, पूजाके कार्य-कलाप और लोगोके धार्मिक विश्वास, प्रतिमाओ तथा अवतारोके असख्य पौराणिक सकेतके सदृश कुछ घटनाओ को छोड़कर सस्कार और पूजा-पद्धतियाँ उस आदि-कालके किसी प्रकार अवशिष्टांश नही है जिसका कवि वर्णन करना चाहता है क्योकि यह प्रमाणित किया जा सकता है कि इनका अभी तक विकास भी नही हुआ था। अत. वे उसके युगको ही अधिक यथार्थतासे प्रतिबिम्बित करते है।

---:o:---

१ शाकु०, ६.२४। २ रघु०, १२.६१। ३ शाकु०, ६.२५। ४ रघु०, १.६७–७१।

अध्याय १६

दर्शन

कविकी रचनाओमे आये दार्शनिक सिद्धान्तोंके असख्य उल्लेख कवि-कालमें प्रचलित आध्यात्मिक विचार-धाराओंपर पर्याप्त प्रकाश डालते है। कालिदास-द्वारा उपस्थित की गयी सामग्रियोको एकत्रित करनेपर तत्कालीन दर्शनका एक सुपाठ्य विवरण निर्मित करना सम्भव हो सकेगा। कविने साख्य, वेदान्त, मीमासा, वैशेषिक, न्याय और योग, प्राय. सभी भारतीय दर्शन-सरणीका हवाला दिया है, जिनपर एक-एक करके हम अगले पृष्ठोमे विचार करेगे।

जगत्‌की प्रकृतिके सम्बन्धमे कालिदास साख्य-योग विचारोको मान्यता देते प्रतीत होते है। प्रकृतिके तीन तत्त्वो, सत्त्व (प्रकाश), रजस् (कर्म) और तमस् (अकर्म) का उल्लेख उनके ग्रन्थोमें[1] बराबर आता है। प्रकृतिमें रहनेवाले त्रिगुण

सांख्य

('प्रकृतिस्थ'[2] 'त्रिगुणा'[2])है—सत्त्व, रजस् और तमस्[3] इन तीन गुणोके[4] पूर्ण समन्वयकी अवस्था प्रकृति है। साख्य-दर्शनकी एक पाठ्य पुस्तक 'तत्त्व समास'मे तीन गुणोका इस प्रकार भाष्य किया गया है—गुणत्रयका अर्थ है 'तीन गुण'।

---

१ कुमा०, २.४; रघु०, ८.२१, १०.३८; माल०, १। २ रघु०, ८.२१। ३ सत्त्वं काशकं इष्टं, उपष्टम्भकं चलञ्च रजः, गुरुवरणकमेव तमः, साङ्ख्यकारिक, १३; मिलाकर योगसूत्र, २.१८। ४ सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, साङ्ख्य-सूत्र, १.६१, मिलाकर कारिका भी, १६।

शान्ति, सरलता, सन्तोष, पूर्णकामता, दयालुता, तुष्टि, धैर्य, आनन्द आदिमें दिखाई पड़नेसे सतोगुण अनन्त रूप धारण कर लेता है, संक्षेपमें यह आनन्दका रूप है। शोक, कष्ट, वियोग, उत्तेजना, चिन्ता, छिद्रान्वेषण और इसी प्रकार के दूसरे विकारोंमें दीखनेके कारण रजोगुणके अनन्त भेद हैं अर्थात् यह दुःखस्वरूप है। आच्छादन, अज्ञान, घृणा, भ्रष्टता, गुरुता, आलस्य, तन्द्रा, मतवालापन आदिमें प्रकट होनेवाला तमोगुण अनन्तरूपवाला है, सारांश, यह मायाका बना हुआ है।

गुणत्रय

सभी हिन्दू दर्शन 'त्रैगुण्य' शब्दसे परिचित हैं। सभी सद्वृत्तियों, प्रवृत्तियो, अनुभूतियो, वासनाओं तथा कामनाओंके साथ मानव जीवन और सभी प्रकारके कर्म तीन गुणोंसे[1] उत्पन्न माने जाते हैं। ये गुण द्रव्यका निर्माण करते और सारी विशेषताएँ उत्पन्न करते हैं। सांख्यके मतानुसार प्रकृति[2] सृष्टि-रचनाका[3] मूल कारण है। सांख्यका अनुसरण करता हुआ कवि इसको अव्यक्त[4] कहता है। सांख्योंके दो मुख्य अंग हैं, प्रकृति, जिसका दूसरा नाम है प्रधान और पुरुष (आत्मा)। परिवर्त्तनका सिद्धान्त और इन्द्रियका विषय प्रकृति है, और सात मुख्य तत्त्वों तथा सोलह तन्मात्राओं[5] का हेतु है। पुरुष चैतन्यस्वरूप, विकारशीलके बीच निर्विकार, गुणातीत है। सांख्य दर्शन जगत्को प्रकृतिका विकास मानता है और पुरुष या आत्मा सृष्टिके निर्माणमें कोई भाग नहीं लेता। वह निष्क्रिय है, दर्शक-

प्रकृति

---

१ त्रैगुण्योद्भवं लोकचरितं माल०, १। २ कुमा०; २.१३। ३ मूल-प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः। सांख्य-कारिका, ३ मिलाकर प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारः सांख्य-सूत्र मिलाकर कठ १.१, १०-११, २.३, ७-८; मिलाकर भी कुमा०, २.११, व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि। ४ रघु०, १०.१८। ५ मिलाकर सांख्य-कारिका, ३।

मात्र है, जबकि प्रकृति नियमबद्ध जगत्का सृजन करती है । प्रकृति पुरुषके
लिए काम करती है. कारिका' कहती है, "एक अन्धी है, दूसरा लगडा है ।
सृष्टिके लिए दोनोका सहयोग आवश्यक है ।" इस विचारसे कालिदास
सहमत[2] मालूम पडते है । कवि-द्वारा प्रकृति पुरुषकी[3] इच्छा या अर्थकी पूर्ति
करनेवाली कही जाती है । प्रकृतिके लिए 'पुरुषार्थ-प्रवर्त्तिनी' की सज्ञा साख्य[4]
दर्शनके सिद्धान्तसे अक्षरश सामीप्य रखती है । यह यहाँ ध्यान रखने योग्य है
कि यद्यपि प्रकरण ईश्वरके गुणकीर्त्तनका है तथापि शब्द-प्रयोग तथा अभि-
व्यजन साख्यके से है । कालिदास पुरुषको उदासीन और तद्दर्शी[5] कहते है ।
यह धारणा 'काठक' और 'महाभारत' के अधिक प्राचीन साख्य दर्शनके है ।
कालिदासने अपने वाक्याश 'बुद्धेरिवाव्यक्तम्'[6] मे बुद्धि (महत्तत्त्व)
की साख्यीय[7] मान्यताका प्रतिपादन किया है । हेमाद्रि इस वाक्याशकी
व्याख्या करते हुए लिखता है, 'बुद्धिके अदृश्य
बुद्धि कारण मूल प्रकृतिके सदृश ।' मूलप्रकृति यथार्थमे
त्रैगुण्य है जिससे अबतक कोई वस्तु उत्पन्न नही हो सकी ।[8] इस
वाक्याशपर भाष्य लिखते हुए चरित्रवर्द्धन टीका करता है कि 'बुद्धि या
महत्तत्त्वका[9] कारण प्रकृति कही जाती है ।'

---

१ पंगवन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतस्सर्गः सांख्य-कारिका, २१
मिलाकर भी वही, ५७ । २ कुमा०, २.१३; मिलाकर, सांख्यसूत्र,
२.१६१, १६३, मिलाकर भी तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य
पुरुषस्य । कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ।। साख्य-कारिका,
१९ । ३ प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीं कुमा०, २.१३ । ४ सांख्य-कारिका,
१७; साख्य-सूत्र; ३.१ । ५ कु०, २.१३ । अन्यत्र पुरुषको दर्शित विषय
कहा गया है (योगसूत्रभाष्य : मिलाकर कविका तद्दर्शिनम्) और उसीके
लिए पदार्थोंकी विद्यमानता है । तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा, योगसूत्र, २.२१ ।
६ सां० का० २३–२४ । ७ रघु०, १३.६०; मिलाकर; विक्र०, पृ० ६१ ।
८ बुद्धेरव्यक्तं मूलप्रकृतिकारणमिव । अनुत्पादित कार्याणि सत्त्वरजस्तमांसि
मूलप्रकृतिः । ९ बुद्धेर्महत्तत्त्वस्य कारणं प्रकृतिं कथयन्ति ।

'सवाह्यकरण'[1] पदसमुच्चय-द्वारा कवि वाह्य ज्ञानतन्तुओ और शक्ति-चालक अंगोका संकेत करता है और 'अन्तरात्मा'[2] तथा 'अन्त:-करण'[3] वाक्यांगोंसे आत्माका। सांख्यदर्शन[4] इन्द्रियोको दो वर्गोमें विभक्त करता है, वाहरी (वाह्येन्द्रिय) और भीतरी (अन्त.करण)।

वाह्य इन्द्रियाँ दो प्रकारकी है ज्ञानकी इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रिय) यानी, कर्ण, चक्षु, त्वचा, जिह्वा और नासिका, और पाच कर्मेन्द्रियाँ (कर्मेन्द्रिय) अर्थात् वाक्, हस्त, पाद, पायु तथा उपस्थ।[5] अन्तरेन्द्रियाँ हैं—मन, वुद्धि और अहंकार। अन्त.करण ज्ञान तथा दु:खानुभवको एक जन्मसे दूमरे जन्म तक ले जाता है। कवि कहता है कि तत्त्वज्ञानके[6] द्वारा इन्द्रिय-निग्रहका[7] सावन किया जाता है। कठोपनिषद् इन्द्रिय, मन, वुद्धि, आत्मा और ब्रह्मका[8] सम्वन्व वताता है।

साख्य-दर्शनका अनुसरण करते हुए कालिदास तीन प्रमाणो[9] अर्थात् सत्तावारी मारी वस्तुओंकी प्रकृतिके यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके सावनोंका

---

१ शाकु०, पृ० २३५; विक्र०, पृ० ११७; रघु०, १४.५०। २ शाकु०, पृ० २३५। ३ विक्र०, पृ० ११७। ४ करणं त्रयोदशविधं सां० का०, ३०; अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा वाह्यं वही, ३३, ज्ञानेन्द्रियोसे, वुद्धीन्द्रियाणि चक्षु:श्रोत्र, आदि वही; २६। ५ श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी। पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता॥ २.९०। ६ रघु०, ४.६०, ५-२३, ८.१०; विक्र०, पृ० ६१। ७ रघु०, ४, ६०, १३.५८। ८ इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा वुद्धिर्वुद्धे-रात्मा महान्परः। महतः परमव्यक्तम-व्यक्तात्पुरुष: परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः १.३, १०-११ प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥ सां०सू०, ६१। ९ रघु०, १०.२८, १३-६०, मिलाकर दृष्टमनुमानाप्तवचनं च सर्वप्रमाण-सिद्धत्वात्। त्रिविधं प्रमाणं इष्टं प्रमेयसिद्धिःप्रमाणाद्धि॥ सां० का०, ४।

उल्लेख करते हैं। वे इस प्रकार हैं: प्रत्यक्ष, जो इन्द्रियोंके द्वारा जाने जायँ, अनुमान, निष्कर्ष और आप्तवाक्, वेदादिके विश्वसनीय कथन। सांख्यदर्शनके मतानुसार जो रक्षक ज्ञान पुरुषको पुनर्जन्मके दुःखोंसे बचाता है, आत्मा तथा पुरुषके बीचके भेद (विवेकख्याति) के अनुभवसे उत्पन्न होता है। आत्मा और प्रकृतिके राज्योंकी विभाजक रेखाका आकन करने वाला सर्वप्रथम कपिल था। उसका सिद्धान्त बिलकुल द्वैतवादी है; वह दो तत्त्वोंको मानता है—दोनों अनादि और अनन्त हैं, किन्तु उनमें मौलिक भिन्नता है, एक ओर है प्रकृति और दूसरी ओर है, अनन्त समष्टिलीन व्यष्टि।

प्रमाण

कालिदास वेदान्त-दर्शनका किसी विशिष्ट दार्शनिक विचार-धाराके रूपमें उल्लेख नहीं करते। शायद एक प्रसगके अतिरिक्त कोई अन्य मायाका सिद्धान्त या जीव और ब्रह्मके एकीकरण की मान्यता[1] नहीं है। उनके स्थानमें वे प्रचलित वेदान्त और सर्वव्यापक ब्रह्मका उल्लेख करते हैं। उनके नान्दी-पाठ उपनिषदों और भगवद्गीताके भावोंसे अनुप्राणित हैं, जिनपर हम यथा-प्रसग प्रकाश डालेंगे। कवि अपने 'वेदान्तेषु'[2] पदके द्वारा सीधे उपनिषदों का हवाला देता है। ईश्वर यानी, जगत्के स्थूल तथा सूक्ष्म कारणसे जगत्की उत्पत्ति और प्रलयमें सारी सृष्टिका उसमें लय होनेके सम्बन्धके उद्धरण[3] स्मारक हैं किन्तु उपनिषद्के जगत्के कारण[4] स्वरूप ब्रह्मकी भावनाकी एकरूपता नहीं रखते। इन्हीं विचारोंकी ओर ब्रह्मसूत्रोंने[5]

वेदान्त

१ ब्रह्मभूयं गतिं रघु०। २ विक्र०, १.१। ३ रघु०, १०.१६, १८, २०; कुमा०, २.५, ६, ७, ८, ९, १०। ४ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्-ब्रह्मेति। तैत्तिरीय उप० ३.१। ५ जन्माद्यस्य यतः १.१, २; योनिश्च हि गीयते १.४, २७।

भी संकेत किया है। रघुवंशमें विष्णुकी एक लम्बी प्रार्थना है। उसमें विष्णुकी प्रशंसा विश्वके[1] स्रष्टा, उसकी स्थिति तथा संहारकर्ताके रूपमें की गयी है। वेदान्त दर्शनके अनुसार निराकार और गुणातीत निर्गुण ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। सृष्टि-रचनाके लिए त्रैगुण्यकी अपनी कल्पना के पूर्व कवि[2] केवलात्माके रूपमे परमात्माके भावको ध्यानमें रखता है। उपनिषदें सृष्टिके पूर्व[3] इस एकात्म तत्त्वकी विद्यमानताके विचारको दुहराती है। ब्रह्म जब इन्द्रियग्राह्य जगत्की सृष्टि करना चाहता है, वह रजोगुणमें प्रकट होता है और पुरुष, ब्रह्मा (एक अवस्थामें पुरुष और स्त्रीके[4] अलग-अलग रूपमें अपनेको बाँटने वाला), स्रष्टा बन जाता है और विकासकी प्रक्रियामे आगे चल कर वह सत्त्वगुणसे समन्वित होता और पालक विष्णु हो जाता है और अन्तमें वह तीसरे गुण तमस्को धारण कर शिव-स्वरूप प्रत्यक्ष होता है जो संहारकर्त्ताका रूप है। यह एक ब्रह्मा ही है जो त्रिदेवका[5] रूप प्रदर्शित करता है? 'जगद्योनि'[6] वाक्यांशमें एक बार फिर हमें सृष्टि-रचनाका वेदान्तीय सिद्धान्तकी ओर संकेत मिलता है क्योंकि वहाँ कहा जाता है कि ईश्वरके जगत्के उपादान और निमित्त-कारण होनेसे उससे भिन्न किसी अन्यकी[7] सत्ता जगत्में नही हो सकती। शिवको अष्टमूर्त्तिकी[8] उपाधि देने और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश,

---

१ १०.१६, मिलाकर शिव सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः वही, २.४४; ब्रह्मा प्रलयस्थितिसर्गाणां कुमा०, २.६। २ कुमा०, २.४। ३ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचनमीषत् स ईक्षत् लोकान्नुत्सृजा इति ऐत० उप० ११ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्—छान्दोग्य उप० ६.२, १ तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति...वही, ३। ४ वही, ७। ५ एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा शिवको संकेत कर कहता है; कुमा०, ७.४४। ६ वही, २.६, विश्वयोनिः वही, ६२। ७ वही, २.१०। ८ वही, १.५७, ६-२६; रघु०, २.३५; शाकु०, १.१; माल०, १.१, मिलाकर गीता, ७.४।

सूर्य, चन्द्र तथा ब्राह्मण[1] नामक प्रकृतिके आठ तत्त्वोंके साथ उसके एकीकरणमें अनेकेश्वरवाद प्रदर्शित होता है। विष्णुकी एकता सर्वोच्च आदर्श से की गयी है और फलतः हिमालयके साथ जो सब पर्वतोंमें[2] ऊँचा है। यह धारणा ठीक भगवद्गीताके दशम अध्यायके विचारसे मिलती जुलती है जहाँ[3] भगवान् कृष्ण अपनेको विश्वके सर्वोत्कृष्ट अंग बतलाते हैं। उसी पद्धतिका अनुसरण करते हुए ब्रह्माको पिताओंका पिता, देवोंका देव, सबके दूरसे भी दूर और स्रष्टाओंका स्रष्टा कहा गया है। उसी प्रकार वह कहलाया है हवि और होता, भोज्य और भोक्ता, ज्ञान और ज्ञाता और ध्याता और ध्येय।[4] यह सीधे गीतासे[5] लिया गया प्रतीत होता है। अनादि[6] आकाशमें वह व्यापक कहा जाता है। वह मन[7] से परे है। ऋग्वेदके[8] पुरुष-सूक्तके भावका अनुक्रमण करते सम्पूर्ण द्यौलोक, पृथ्वी और दस दिशाओंको व्याप्त कर लेनेके बाद भी ब्रह्माका विस्तार अधिक रह जाता है।[9] विष्णुके आणविक आदि आठ गुण[10] हैं, जिनके द्वारा वह अपने आकारका विस्तार कर सकता है। वह हृदयमें निवास करता हुआ भी दूर, निष्काम होनेपर भी तपस्वी, दयालु होकर भी शोक-रहित और पुरातन होते हुए भी क्षीणतारहित माना जाता है।[11] यह विचार उपनिषदोंके[12] विचारके सदृश ही है। सर्वज्ञ होकर भी वह स्वयं अज्ञात है, सबकी उत्पत्तिका हेतु होने पर भी वह आत्मनिविष्ट है, सबका स्वामी होता हुआ वह स्वयं स्वामी रहित है, वह एक है किन्तु वह सब

---

१ हर्षचरित, १; विष्णुपुराण, १.८८। २ कुमा०, ६.६७। ३ कुमा०, २.१४। ४ वही, १५। ५ ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ४.२४। ६ रघु०, १०.७१। ७ यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैत्ति० उप० २.४, ९। ८ १०.९,१। ९ वही, १३.५; विक्र०, १.१। १० रघु०, १०.७७; मिलाकर श्वेताश्वतर, ३.२०। ११ वही, १०.१९। १२ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके ईशा०, ४, ५

रूपोको[1] धारण करता है। लोगोपर दया करके वह अवतार लेनेको पृथ्वीपर आता है और नरकी[2] तरह आचरण करता है। इस विचारका उद्‌गम गीता[3] ज्ञात होती है, जिसमे अवतार-सम्बन्धी इसी प्रकारके उद्‌गार प्रकट किये गये हैं। वह लोक-पालनमे समर्थ है, फिर भी उदासीनता[4] धारण किये है :—गीतासे[5] यह विचार भी लिया मालूम होता है। कविकी उस उक्तिमे, जहाँ वह विष्णुको सब मार्गोका अन्तिम छोर बनाता है और जिसपर पूर्ण आत्म-समर्पण तथा अपने सारे कर्मोको छोड़ना भक्तके लिए आवश्यक बतलाता है, उसी ग्रन्थका अनुसरण दीख पड़ता है। कवि कहता है :—परमानन्दके मार्ग, यद्यपि अनेक है और धर्म-ग्रन्थोंमें विविध प्रकारसे वर्णित है, तथापि वे केवल उसीमे आकर मिलते है।[6] जिन पुरुषोंकी सांसारिक भोग-कामना पूर्णरूपसे नष्ट हो गई है और जिन्होने अपने हृदयको उसमे लीन कर दिया है और अपने कर्मोको उसपर अर्पित किया है, उनकी परम गतिकी प्राप्तिके लिए वही एक शरण है।[7] वाक्यांश, 'अन्तर्गतं प्राणभृताम्' अन्तर्यामी ब्रह्मका भाव व्यक्त करता है, जो इतने अच्छे ढंगसे बृहदारण्यक उपनिषद्‌मे[8] वर्णित हुआ है। भगवान्‌का भक्ति-योगसे प्राप्त होना एक श्लोकमे[9] प्रतिबिम्बित प्रतीत होता है। इसी विचारके समानान्तर हमे गीतामे[10] विचार मिलते है।

---

१ रघु०, १०.२०, मिलाकर एकं रूपं बहुधा यः करोति—कठोपनिषद्, ५.१२। २ रघु०, १०.३१, २४। ३ ४.६-८। ४ १ रघु०, १०.२५; कुमा०, २.१३। ५ मिलाकर ९.८-१०। ६ रघु०, १०.२६ मिलाकर गीता, ३.२३। ७ रघु०, १०.२७, मिलाकर गीता, ९.२७, ३४, भी ७.१। ८ ३.५, १६, २२; मिलाकर सर्वगतान्तरात्मा कठ० उप०, ५.९, १०, ११, १२; मिलाकर भी ब्रह्मसूत्र, १, २, १८। ९ विक्र०, १.१। १० ४७.१।

यज्ञका[1] भी प्रकरण-संकेत आता है। मीमांसकोंकी मान्यता है कि वेद स्वर्ग[2] प्राप्तिके साधनस्वरूप कर्म या अधिक शुद्धतासे कहा जाय तो यज्ञ-याग कर्मकाण्ड करनेका आदेश करते हैं।

मीमांसा और न्याय

कालिदासका संकेत भी विशेषतया इस विचार की ओर है और स्वर्ग-फलको[3] पानेके लिए वे वेद-विहित कर्मकाण्डोंको प्रश्रय देते हैं। इस संकेतमें यह ध्यानमें रखा जा सकता है कि 'गिरम्' पदका प्रयोग हुआ है जो वेदोंसे सम्बन्ध रखता है जो संहिता, यानी, मंत्र-भाग, विधि और अर्थवादके साथ ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदोंसे बने हैं। यज्ञ और दूसरे कर्मकाण्ड (विधि, क्रिया आदि) जिनका कवि बार-बार जिक्र करता है और जिनपर हम अच्छी प्रकार विचार कर चुके हैं ऐसे यज्ञ-याग हैं जिनको करनेपर मीमांसक बल देते हैं। मल्लिनाथ इसपर कहता है: 'कर्मस्वर्गौ ब्रह्मापवर्गयोरप्युपलक्षणे'। वह स्पष्टतः उत्तरकालीन नीतिवादियोंके सम्प्रदायका अनुगामी है जिन्होंने ब्रह्मवाद का जन्म दिया और जिनके सिद्धान्त नियमानुसार शंकराचार्य आदिसे निर्धारित हुए। वेदान्ती मानते हैं कि कर्म किसीको मोक्ष नहीं दे सकते किन्तु वे केवल ब्रह्म-ज्ञानका मार्ग निर्माण करते हैं जिससे होकर ही मोक्ष तक पहुँचा जा सकता है। दूसरे स्थान[4] पर कवि जैमिनिका सीधा हवाला देता है। इस हवालेसे जैमिनि योगाभ्यासके[5] आचार्य प्रमाणित होते हैं, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इन ऋषिका कदाचित ही योगके साथ सम्बन्ध रहा था। ब्रह्मसूत्रोंमें[6] बादरायणने जैमिनिके विचार

---

१ कुमा०, २.१२। २ चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः आम्नायस्य क्रियार्थत्वा-दानर्थक्यमतदर्थाना जैमिनीयसूत्र, १.१, २ विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः वही, २.१,७, मिलाकर दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनाम् शबरभाष्य वही, १.७। ३ कुमा०, २.१२। ४ रघु०, १८.३३। ५ वही। ६ १.२, २८; १.२, ३१; १.३, ३१; १.४, १८; ३.२, ४०; ३.४, २; ३.४, १८; ३.४, ४०; ४.३, १२; ४.३, ५।

दस वार उद्धृत किये है किन्तु यह स्पष्ट है कि कही भी उनके साथ योगकी बातका समावेश नहीं हुआ है।

मीमांसाके सम्वन्धका दूसरा जिक्र उनके कथन 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये'[1] में निहित है। यह स्पष्ट रूपसे मीमांसकोंके 'नित्य- शब्दार्थ-सम्वन्धः'[2] के सिद्धान्तकी ओर संकेत करता है। 'शब्दगुण'[3] पद वैशेषिक, न्याय और सांख्य,इन तीन दर्शनोंसे सम्वन्ध रखता कहा जा सकता है। तथापि यह वतलाया जा सकता है कि यह पद समान अर्थमें तीनो दर्शनोंमें नहीं है।

वेदान्तके समान योगको भी कविने लोक-प्रचलित प्रकारसे ही व्यवहृत किया है, ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी हम आगे देखेंगे उनका पतंजलि[4] के योग-सूत्रमें आये शब्दोंसे पूर्ण परिचय था।

योग

कालिदासने योग शब्दका प्रयोग अधिकतासे किया है। योग या मोक्ष[5]-प्राप्ति और परमात्माके साथ एकाकार[6] होनेके लिए आत्म-चिन्तनका उल्लेख हुआ है। मल्लिनाथके शब्दोंमें 'योगविधि'[7] यानी चिन्तनका अभ्यास या निराकारका ध्यान है, 'मनमें परमात्मामें[8] लीन आत्माका अनुभव करना।'

पतंजलिने योगकी परिभाषा चित्तकी[9] वृत्तियों पर रोक लगानेकी की है। योगके आठ अग है।[10] इनमें आन्तरिक ध्यान,[11] धारणा[12]

---

१ रघु०, १.१। २ मिलाकर औत्पत्तिकस्तुशब्दस्यार्थेन सम्बन्धः जैमिनि १.१ भी मिलाकर सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे नवाह्निक, १.१.१। ३ रघु०, १३.१ मिलाकर भी वही; ४.२, १०.२५, १८.३। ४ वही, १.८, ७४, १०.२३, १३.५२, १४.७२, १६.७, १८.३३; कुमा०, १.५९, ३.४०, ४४-६० आदि। ५ रघु०, १०.२३, १८.३३। ६ वही, ८.२२, २४। ७ वही। ८ उसी पर टीका। ९ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, योगसूत्र सू० १.२। १० यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि वही, २.२९। ११ रघु०, १३.५२; कुमा०, ३.४८। १२ रघु०, ८.१८।

और समाधिका[1] उल्लेख कविने किया है। योग-सूत्रोंमें[2] इन सभी तीनोका पूरा विवरण मिलता है। समाधि अन्तिम अवस्था है जिसमें मन और इन्द्रियोकी क्रियाएँ पूर्णतः बन्द हो जाती हैं। ध्येता सारे बाह्य जगत्के ज्ञानसे रहित होकर आत्म-लीन हो जाता है। इसका प्रणिधान[3] शब्दसे भी बोध किया जाता है। इसीके उपरान्त ही योगी प्रकृतिके तीन गुणोपर आधिपत्य प्राप्त कर लेता है, मिट्टी और सुवर्णके[4] मूल्यके भेदके ज्ञानसे शून्य हो जाता है और स्थिरधीकी[5] अवस्थाको प्राप्त कर लेता है। स्थिरधी योगीकी वह अवस्था है जब वह पूर्ण मानसिक एकान्तता प्राप्त कर लेता है। स्थिरधी वही है जो भगवद्गीताका[6] स्थिरप्रज्ञ है। उसका हृदय विपत्तियोमें विचलित नही होता, उसके सुखकी कामना नही और प्रीति, भय तथा क्रोध उससे दूर हो जाते हैं।[7] यह पूर्ण शान्तिकी अवस्था है। समाधिके[8] प्रकरणमें कविने पतजलिके[9] 'प्रसख्यान' शब्दका उपयोग किया है।

कालिदासने योगसाधनकी प्रक्रियाका भी निर्देश किया है। ध्यान करते समय ऋषि पर्यंकबन्ध[10] जिसका दूसरा नाम वीरासन[11] है, लगाया करते थे। शिव इसी आसनसे बैठे वर्णित हैं—उनका ऊपरी आधा शरीर सीधा और निश्चेष्ट है, कमलके समान करतलोको जघोपर ऊर्ध्वमुख रखनेके कारण उनके कन्धे कुछ झुक गये हैं।[12] हथेलियाँ एकके ऊपर

---

१ कुमा०, १.५९, ३.४०, ५.६, ४५; रघु०, १३.५२ आदि। २ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ३.१; प्रत्यैकतानता ध्यानम् ३.२ तदेवार्थमात्रनिर्भासम् स्वरूप-शून्यमिव समाधिः ३.३। ३ रघु०, १.७४, ८.१९, १४.७२; मिलाकर १.२३, २.१। ४ रघु०, ८.२१। ५ वही, २२। ६ स्थिरधी भ० गीता, २.५४, ५६; स्थितप्रज्ञ वही, २.५४, ५५। ७ वही, ५६। ८ ४.२९। ९ कुमा०, १.५९। १० वही; ३.४५, ५९। ११ रघु०, १३.५२। १२ भगवद्गीताने इस मुद्रा को आवश्यक समझा है, ६.१३।

दूसरी रखी थी।[1] अर्द्धनिमीलित और स्थिर दृष्टि नासिकाग्रपर[2] लगी थी। पाच प्रकारके वायु (पंचमारुत)[3] उनके शरीरमे रुद्ध थे, जिस प्रकार जलसे भरा बादल या शान्त सरोवर। इस प्रकार सारा शरीराभ्यन्तर पवन क्रियाहीन था।[4] शरीरके पाँच वायु ये है—प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। कविके इस प्राणायामविधि[5] का उल्लेख ईषद् विस्तारके साथ भगवद्गीतामे[6] हुआ-सा है। योगसूत्रके[7] अनुकरणमें 'शिरस्त.'[8] शब्द प्रयुक्त किया गया है इसका सकेत ब्रह्मरन्ध्र या मस्तिष्क के ऊपरी भागके रिक्त स्थानकी ओर है जो बुद्धिका चरम केन्द्र है और जिसका सम्बन्ध सुषुम्नाके साथ है। विष्णु योगनिन्द्रा[9] में सोये माने जाते है। ध्यानावस्था या समाधिकी यह निद्रा मर्त्योकी साधारण नीद से भिन्न है। इसमें सब प्रकारकी चेतनाका अभाव हो जाता है और इसलिए यह मृत्युकी एक अवस्था है। यह योगीकी निद्रा है जिसमे चेतना तथा स्मरण शक्ति विद्यमान रहती है और जिसमे सोने-वाला अप्रत्यक्ष वस्तुओं तथा भिन्न-भिन्न युगोंके व्यक्तियोंके सम्पर्क का सुख अनुभव करता है—जिसमे वस्तुतः सामान्य अवस्था और ज्ञानकी सीमा अलग कर दी जाती है। यह पुरुषकी एक स्थिति है जो सका अभ्यासी है, अर्थात् ध्यानगत विश्रान्ति प्रत्येक चतुर्युगीके अन्त में वह ब्रह्माण्डको प्रलयमें लीन कर विश्राम लेता है और उसकी नाभीसे निकले कमल पर बैठे आदि स्रष्टा उसकी स्तुति करते रहते है।[10]

समाधिकी अवस्थामे नौ द्वारोंसे (नवद्वार) होनेवाले बाह्य पदार्थोंके साथके सभी शारीरिक संसर्गोको रोककर मनको बिलकुल निगृहीत कर

---

१ कुमा०, ३.४५; मिलाकर मृच्छकटिक १.१। २ कुमा०, ३.४७; मिलाकर गीता, ६.१३। ३ रघु०, ८.१९। ४ कुमा०, ३.४८। ५ रघु०, ३.२४। ६ ४.२९, ६.११-१२। ७ कुमा०, ३.४९। ८ ३.२२; मिलाकर इसपर टीका। ९ रघु०, १३.६। १० वही।

देते हैं और उसको हृदयमें[1] स्थिर करते हैं। भगवद्गीतामें[2] लिखित नौ द्वार भी शरीरके वे नौ दरवाजे हैं जिनसे होकर मनका चतुर्दिक् बाह्य जगत्से सम्पर्क होता है। ठीक इसी प्रकारकी समाधिकी अवस्था गीतामें[3] दी गई है। अतः मनको 'अन्तर्मुख' करना अर्थात् इन्द्रियोंके बाह्य विषयों से हटाकर भीतरकी ओर ले जाना अत्यन्त आवश्यक है। पूर्ण समाधिकी इस अवस्थामें योगी अक्षर ब्रह्ममें[4] ध्यान लगाता है और परम ज्योतिको[5] प्राप्त करता है। गीतामें[6] अक्षर ब्रह्मका विस्तारपूर्वक विवेचन है। कविके[7] क्षेत्रका भाव भगवद्गीतामें[8] विवेचनाका विषय है। योगीकी अवस्था विशिष्ट समझी जाती है और उनको दिव्य शक्तियाँ[9] देनेवाली मानी गयी है। ऐसा माना जाता था कि योगबलको रखनेवाला बन्द दरवाजेके[10] भीतर प्रवेश कर सकता था। इस प्रकारकी योगकी सिद्धियों का पतंजलिने[11] भी वर्णन किया है।

समाधि या योगने, जिसके लिए इन्द्रियोंके कार्यको नितान्त निर्जीव बना देना आवश्यक था, योगीके लिए स्वभावतया वनके एक एकान्त कोनेमें स्थान खोजना अनिवार्य कर दिया। अतः तपोभूमि एक आवश्यक संस्था बन गई जहाँ 'वीरासनमें समाधि लगाने वाले तपस्वियोंकी वेदिकाओंके बीच खड़े वनके वृक्ष वहाँके एकान्त निर्वात वातावरणके कारण समाधिस्थ प्रतीत होते थे।'[12]

योगका समाधिके द्वारा मोक्षकी[13] प्राप्तिके अर्थमें व्यवहार होता था। इस विचारका ठीक विश्लेषण करने पर जैसा ऊपर संकेत हुआ है, यह

१ कुमा०, ३.५० । २ ५.१३, ८.१२; मिलाकर भी श्वेताश्वतर उप० ३.१८ । ३ ८.१२; मिलाकर श्वेताश्वतर उप०, २.८, ९ । ४ कुमा०, ३.५०; रघु०, १०.२३ । ५ कुमा०, ३.५०; मिलाकर भी ज्योतिषामपि ज्योतिः बृहदारण्यकोपनिषद् । ६ ८.३, ११, १३ । ७ कुमा०, ३.५०, ६.७७ । ८ १३ । ९ रघु०, १६.७; शाकु०, पृ० २९३ । १० रघु०, १६ ७ । ११ योगसूत्र, ३ (विभूतिपाद) । १२ रघु०, १३.५२; मिलाकर वही, १०.१४ । १३ वही, ८.२२, २४ ।

भगवद्गीतामें[1] विकसित योग दर्शनसे सम्बन्धित नहीं मालूम होता है जहाँ योग 'कर्मसु कौशलम्'[2] कहा गया है।

यह स्पष्ट है, कि बौद्ध और जैन धर्मोंकी ओर कोई प्रत्यक्ष संकेत नहीं मिलता। शायद बौद्धधर्मके कुछ छिपे संकेत पाये जायँ किन्तु जैन धर्मके तो एक भी नहीं है। हाँ, यदि 'प्रायोपवेश'[3] शब्दका जैनी अर्थ 'मरणपर्यन्त उपवास' करें तो हो सकता है। बौद्धधर्मके सम्बन्धके हमें शायद कुछ अप्रत्यक्ष उल्लेख दीख पड़ते है। कविने निर्वाण शब्दका अनेकों बार[4] प्रयोग किया है किन्तु यह शकारहित नहीं है कि इसका उसी अर्थमें प्रयोग हुआ है जिस अर्थमे बौद्ध धर्मका निर्वाण शब्द। निर्वाण का अर्थ है पूर्ण शान्ति, परमानन्द। इसका शाब्दिक भाव है, 'जो कुछ फूँककर निकाल दिया गया है' और इसका संकेत है अहंकारको फूँक निकालने या उसका बिलकुल अन्त कर देनेकी ओर। मालविकाग्निमित्रकी परिव्राजिका कदाचित् बौद्ध भिक्षुणी थी, क्योंकि हिन्दू तप-साधनाके नियम स्त्रियोंमें प्रव्रज्याको प्रोत्साहन नहीं देते। उसका काषाय वस्त्र उसके योग्य[5] है और वह "शान्त पापं, शान्त पापं"[6] के मंत्रका उच्चारण करती है जो उसी प्रकारके बौद्ध मंत्रोच्चारके सदृश है। हमे ध्यान रखना चाहिए कि शिवकी समाधिका[7] वर्णन जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये है और जिसपर हमने दूसरे स्थलपर पूरा प्रकाश डाला है, बौद्ध योगका गहरा प्रभाव रखता है। यह विशेषतः बौद्धधर्म ही था जिसने भारतमे योगाभ्यास का इतना प्रचार किया। समाधिस्थ शिव, बोधि वृक्षके नीचे आसन मारे

बौद्ध और जैन धर्म

---

१ ४.१–२, मिलाकर ४.६। २ २.५०; मिलाकर वही, ४८। ३ रघु०, ८.९४। ४ वही, १२.२, शाकु०, पृ० ८८; कुमा०, ३.५२; विक्र०, ३.२१। ५ इमे काषाये गृहीते–युक्तः सज्जनस्यैष पन्थाः माल०, पृ० ९९। ६ वही। किन्तु उक्त वाक्यांशका एक अन्य प्रयोग भी शा०, पृ० ७२ में है जो बिल्कुल अबौद्ध प्रकरणमें है। ७ कुमा०, ३.४५–५०।

बुद्ध और वीरासन मुद्रामें बुद्ध देवकी मूर्तियोंसे सादृश्य रखता है जिनके असंख्य प्रकारोंको हमने भारतके संग्रहालयोंमें सुरक्षित रखा है। कविने अर्हत्[1] शब्दका उल्लेख किया है किन्तु शायद उसका भाव उस शब्दकी बौद्ध अभिव्यंजनासे नही है।

दार्शनिक संकेतोंके उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि कालिदास जिस धरातल पर खडे हैं वह लोक-प्रचलित वेदान्तवादका है। ऐसा प्रतीत होगा कि अधिक समझदार लोग, जैसा कि कालिदासने लिखा है, एक सर्वव्यापक विराट् देवताकी धारणाकी ओर मुड़ गये थे।

हिन्दू दृष्टि-कोणमें मानवी कामनाएँ अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्षकी[2] सिद्धिके लिए हैं। इनमें अन्तिम मोक्ष है—अन्तिम मुक्ति, परमानन्द, परम शान्ति।[2] कवि इसको विविध प्रकारसे मुक्ति,[3] अपवर्ग,[4] अनपायिपद,[5] पराव्यगति,[6] अनावृत्ति[7] अवस्था, अजन्म[8] और इसी प्रकारके अन्य शब्दोंके द्वारा निर्देश करता है। जन्म शरीरकी चहार दीवारी के भीतर (शरीरबन्ध)[9] बन्धन और दुःख समझा जाता है जिससे छुटकारा, मुक्तिकी खोज की जाती है। इस मुक्तिके न रहने पर आत्माको बार-बार (पुनर्भवम्) जन्म लेकर और पूर्व जन्मोंमें किये कर्मोंके अनुसार जीव-शृंखलासे जाना पडता है। प्रसिद्ध हिन्दू षड्दर्शनमेंसे प्रत्येक और बौद्ध तथा जैन धर्म आत्माकी अन्तिम मुक्तिके सम्बन्धमे अपने विचार तथा मार्गका निरूपण करते हैं। वेदान्तके अनुसार यह अवस्था ब्रह्म तथा जीवके भेदके मिट जाने पर प्राप्त होती है। कालिदास लिखते है कि योग दर्शनके अनुसार यह अवस्था समाधिमे[10] प्राप्त होती है। बौद्ध इस अवस्थाके लिए निर्वाण

मोक्ष

---

१ शाकु० ५.१५। २ धर्मार्थकाममोक्षाणाम् रघु०, १०.८४; मिलाकर वही, २२। ३ वही, २३; कुमा०, ३.५० मोक्ष वही, २.५। ४ रघु०, ८.१६। ५ वही, १७। ६ कुमा०, ५.७७। ७ रघु०, १८.३३। ८ वही, १३.५८। ९ शाकु०, ७.३४। १० रघु०, ८.२२, २४, १३.३३; विक्र०, १.१।

शब्दका प्रयोग करते हैं। निर्वाणका शाब्दिक अर्थ है, 'जो फूट निकला है' और इसका संकेत है अहंकारका पूर्णतः निरसन, सर्वज्ञतामें परम चैतन्य विश्रान्ति। इसका आगे चलकर अर्थ हो गया परम आनन्द, चरम शान्ति।[1]

यह स्मरण रखना चाहिए कि अच्छे या बुरे कर्मोंसे मोक्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता क्योंकि इच्छाओं और संगसे हम चाहे उनको कितना भी निर्दोष क्यों न रखें वे किसी-न-किसी प्रकारके फलसे अवश्य लिप्त होंगे। मनोरथोंकी सिद्धियाँ निश्चय ही कर्मोंके उद्देश्यके भाग होती हैं क्योंकि मनोरथोंका[2] कहीं अन्त नहीं होता। मीमांसक यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्मोंको करनेपर अधिक बल देते हैं किन्तु सत्कर्म (पुण्य) केवल सुखकी[3] प्राप्ति कराते हैं—सप्तलोकोंमेंसे[4] एकमें निवास। उनकी सिद्धियोंकी चरम सीमा स्वर्गकी[5] प्राप्ति है। किन्तु यह अवस्था चरम शान्तिकी नहीं हो सकती और इससे पुनर्जन्मका अन्त नहीं हो सकता। पुण्य कर्मोंके अनुसार स्वर्गमें निवास करनेकी अवधि होगी और पुण्यकर्मके क्षीण होने पर आत्मा फिर पृथ्वी[6] पर लौट आयेगी और जन्मकी शृंखलामें अपना अस्तित्व बना लेगी। त्रिवेणीमें[7] एक डुबकी लगाने-मात्रसे पुनर्जन्म से छुटकारा पानेका कालिदासका उल्लेख केवल अर्थवादका एक उदाहरण है और इसका अर्थ यह है कि इससे लोग सत्कर्म करनेको उत्साहित हों। वस्तुतः आत्माका अस्तित्व स्वयं कर्मोंके बन्धनमें पड़ा है और मोक्ष-प्राप्तिके लिए उनसे निर्बन्धता,[8] इस दुरासद बन्धनको काटना अनिवार्य होगा। जब ज्ञानकी आगमें (तत्त्वज्ञान)[9] कर्म दग्ध हो जाते हैं तभी मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है और जीवनकी यह भयानक शृङ्खला दूर की जा सकती है।

---

१ रघु०, १२.२; कुमा०, ३.५२; माल०, ३.१; शाकु०, २.१०, पृ० ८८; विक्र०, ३; मिलाकर किर०, ११.६६; निर्वाणोऽवातो पाण०, ८.२, ५०। २ कुमा०, ५.६४। ३ शाकु०, २.१०। ४ रघु०, १०.२१। ५ कुमा०, २.१२, रघु०, ११.८७, ८५, मेघ० पू०, ३०। ६ मेघ० पू०, ३०। ७ रघु, १३ ५८। कर्मबन्धच्छिदं कुमा०, २.५१। ८ रघु० ७.५८; मिलाकर वही, ४.६०। ९ मैं इस अध्यायके कुछ सुझावोंके लिए अपने मित्र प्रो० टी० आर० वी० मूर्तिका ऋणी हूँ।

परिशिष्ट—क

कालिदासका काल

कालिदासके कालके सम्बन्धमें लेखोकी प्रचुरता है और जिस समयके अभ्यन्तर उनको स्थान देनेकी चेष्टा की जाती है, वह विस्तृत है। एक ओर उनका काल ई० पू० दूसरी शताब्दी माना जाता है और दूसरी ओर ई० सन् की सातवी सदीमें और उससे भी पीछे उनको रखनेका निश्चय दीख पडता है। कालके इन दो छोरोंके मध्य उनके जो युग निश्चित होते है वे सचमुच अनेक है। एक या दूसरे काल-छोरके पक्षमें दिये गये तर्कोंके गुण-दोषोका विवेचन हम यहाँ नही करेंगे। यथार्थ तो यह है, कि विविध सिद्धान्तोका अधिकाश, परीक्षणके श्रमका पारिश्रमिक भी नही चुका सकेगा। यहाँ कुछ इनेगिने सिद्धान्तोके सक्षिप्त परीक्षण और उसके पश्चात् उन आधारोको उपस्थित करनेका विचार है जो कविके कालका निरूपण यथासम्भव निर्भ्रान्तिके साथ कर सकें। अत इन दो रेखाओंको अधिकसे अधिक निकट लानेका प्रयास किया जायगा और इस प्रकार काल-विस्तारके एक ऐसे सकीर्ण रूपकी ओर सकेत किया जायगा जिससे कविका समय निर्विवाद सिद्ध हो सकता है।

कवि-कालकी दो सीमाएँ सरलतासे निश्चित होती है। आरम्भिक सीमाका निश्चय इस तथ्यके आधारपर होता है कि मालविकाग्निमित्रमें कविके नामका उल्लेख है।

द्वितीय शताब्दी ई० पू० के सिद्धान्तकी रक्षाके लिए चिन्तित रक्षको का अभाव है। इसके अतिरिक्त हमें अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि कालिदास पतजलिके सम-सामयिक नही स्वीकार किये जा सकते क्योकि पतजलिके द्वारा उनके 'योग-सूत्र'में प्रयुक्त शब्दोसे वे पूर्ण परिचित होना

1922

प्रदर्शित करते हैं। हम जानते हैं, पतंजलि पुष्यमित्रके समकालीन थे। परम्परा कविको विक्रमादित्यके समसामयिक बनाती है जो ई० पू० प्रथम शताब्दीके पूर्व नहीं हो सकती, कारण विक्रमादित्यकी उपाधि कभी किसी शुंगवंशीय नृपको प्राप्त नहीं हुई थी।

इसी भाँति प्रथम शताब्दी ई० पू० के सिद्धान्तको स्वीकार करनेमें भी बहु-संख्यक अलघ्य कठिनाइयाँ हैं। यह सिद्धान्त अधिकांश इस आधार पर अवलम्बित है कि विक्रमादित्य-नामक एक राजाने, जो कविका पृष्ठ-पोषक भी था, एक ई० पू० में विक्रम संवत्को चलाया। किन्तु हम प्रथम शताब्दी ई० पू० के किसी ऐसे विक्रमादित्यको नहीं जानते जिसके लिए शकोंको मार भगाना और शकारिकी उपाधि ग्रहण कर एक संवत्का प्रवर्तन करना सम्भव हुआ हो। प्रथम शताब्दी ई० पू० में वह संवत् चलाया भी गया था, सन्देहात्मक है। इसके प्रवर्तनका जो समय कहा जाता है उसके प्रायः एक सहस्र वर्ष बाद इस संवत् (विक्रम के नामसे) का नामोल्लेख हुआ था। तथापि इस सिद्धान्तके समर्थक राव बहादुर सी० वी० वैद्य तथा प्रो० के० सी० चट्टोपाध्याय जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् हैं। 'एनाल्स आफ दी भण्डारकर इन्स्टिच्युट'[1] में प्रकाशित वैद्यकी बहसको उसी प्रकाशनके दूसरे अंकमें[2] के० जी० सरकार-द्वारा मुँहतोड़ जवाब मिल चुका था। प्रो० चट्टोपाध्यायके प्रयासोंका विरोध प्रो० भी० भी० मिराशीने अपने कालिदासमें[3] किया है। किन्तु महाशय चट्टोपाध्यायके निष्कर्षोंके सम्बन्धमें यहाँ कुछ विवेचन किये जा सकते हैं। उन्होंने इस बातकी सत्यतापर अपने निष्कर्षको आधारित किया है कि कालिदास और अश्वघोषके भाव-प्रयोगोंमें समानताएँ हैं और उन्होंने यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा की है कि अश्वघोषने कालिदासकी अभि-व्यंजनाओंको अपनाया है और यह भी कि क्योंकि अश्वघोषका काल ई०

---

१ जुलाई १९२०, पृ० ६३–६८। २ पृ० १८९। ३ हिन्दी संस्करण, पृ० १४

सन् की प्रथम शताब्दी है अतः कविका समय अवश्य ही ई० पू० प्रथम शताब्दीमें था। प्रारम्भमें ही यह कहा जा सकता है कि इन काल्पनिक समानताओंमेंसे बहुतोंको तो समानताका नाम भी नहीं दिया जा सकता और कालिदासके नब्बे प्रतिशत वाक्यांग-प्रयोग, जो विद्वान् प्रोफेसरको अश्वघोषकी रचनाओंमें मिलते हैं, संस्कृत-कवियों-द्वारा सामान्यतया व्यवहृत होते हैं। वास्तवमें वे संस्कृत साहित्यके ऐसे धन हैं जिनपर सबका समान रूपसे अधिकार है। और यदि अपनानेकी बात प्रमाणित भी हो जाय तो यह प्रमाणित करनेको शेष रह जाता है कि किसने किसका अपनाया। प्रोफेसरने इन दोनों कवियोंकी रचनाओंसे जो आधार निकाले हैं और उनसे जिस निष्कर्ष पर वे पहुँचते हैं, वे अवश्य ही बिलकुल अवाञ्छित हैं। एक खोजपूर्ण परीक्षण सरलतासे इसको स्पष्ट कर देगा।

प्रो० चट्टोपाध्यायके विचारमें जब किसी दार्शनिकको काव्य-रचना करनेको बाध्य होना पड़ता है तो वह अध्ययन और दूसरोंका[1] अनुकरण करता है। किन्तु उनके इस विचारमें कि अश्वघोष कविता लिखनेको विवश किये गये कदाचित् ही कोई औचित्य हो। हमारे विचारमें कविकी रचनाएँ कभी भी विवशताके फल नहीं थीं। प्रत्युत वे उसकी स्वतः प्रेरणाकी उपज थीं। उसने अपने आलोचकोंके सामने अपने पर्याप्त विश्वास-पत्र रख दिये हैं और जो कोई उसकी समीक्षा करेगा उसे विश्वास हो जायगा कि शब्द-मर्यादा, वाक्य-माधुर्य या कथावस्तुकी निर्माण-कुशलता में वह भले ही इस या उस कविकी तुलना न कर सके किन्तु 'बुद्धचरित' तथा 'सौदरनन्द' निश्चय ही निम्न कोटिकी योग्यताके परिणाम नहीं हैं। क्योंकि महाशय चट्टोपाध्याय स्वयं स्वीकार करते हैं कि अश्वघोष[2] प्रथम श्रेणीके कवि हैं। प्रोफेसर साहब महाशय के० जी० शंकरकी इस उक्तिको स्वीकार करते हुए उनको उद्धृत करते हैं कि अश्वघोषकी रचनाओं में अनावश्यक पुनरुक्तियाँ हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि वह कोई अनुभवी

---

१ दी डेट ऑफ कालिदास पृ० ८३। २ वही, पृ० १०६।

लेखनी नहीं थी ।[१] यह स्वीकार नहीं किया जा सकता । स्वयं कालिदास की रचनाओंमें ही, जो संस्कृत-काव्यके आचार्य हैं, शब्द-प्रयोगों और विचारोंकी असंख्य पुनरुक्तियाँ हैं । कुमारसम्भवके सप्तम सर्गके बहु-संख्यक श्लोकोंकी 'रघुवंश'[२] के सप्तम सर्गमें पुनरुक्तियाँ की गयी हैं । निस्सन्देह हर कवि या गद्य-लेखक साहित्यकारसे किसी-न-किसी शब्द-प्रयोगकी पुनरुक्ति करनेकी कमज़ोरी होती है । महाशय चट्टोपाध्याय मानते हैं कि कालिदासके एक श्लोक (कु० ७, ६२, रघु०, ७.११) की पुनरुक्ति अश्वघोषने दो बार की है और वे प्रश्न करते हैं : "क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि कौन ग्रन्थ-चोर है ?" वे फिर कहते हैं, कट्टरपंथी सहृदयने 'मद्यकी सुगन्ध'को अनुपस्थित रखनेपर ध्यान रखा है ।'[३] महाशय चट्टोपाध्याय अपनी सुविधाके अनुसार एक ही तर्कको दो विरोधी प्रकरणोंमें प्रयोग करते हैं । उदाहरणार्थ वे प्रिंसिपल शारदारंजन रायके विचारसे सहमत होते उनको उद्धृत करते हैं : "......इस विचार-शैलीके आधार पर यह धारणा खड़ी होती है कि इन सामान्य विचारों के जन्मदाता कालिदास हैं । यदि वे उनके निर्माता नहीं होते, तो वे उनको इस प्रकार इच्छानुकूल व्यवस्थित नहीं कर सकते थे । चोर अपनी चोरीके मालका प्रदर्शन नहीं करता ।"[४] अब प्रश्न उठ सकता है, कालिदास और अश्वघोषमेंसे किसको ग्रंथ-चोरकी उपाधिसे विभूषित किया जाय ? —उनको जो अपने उधारके मालको गुप्त रखता है या उसको जो उसका प्रदर्शन करता है ? यदि अश्वघोषने कालिदासकी रचनाओंसे उनके कथनोंका अपहरण किया तो उनके प्रयोगोंमें पुनरुक्ति करके क्या वे उनको उपस्थित करते ? क्या इसी तर्कका उपयोग यह कहकर दूसरे प्रकार नहीं किया जा सकता कि किसी अपहृत कथनका पुनः पुनः प्रयोग करके उसको निश्चयात्मक रूपसे अपना बतलानेके लिए ग्रन्थ-चोर उसके सम्बन्ध

---

१ वही पृ० ८७ । २ रघु०, ५—११; ५६—६२ । रघु०, १६; कुमा०, ७३ । ३ दी डेट ऑफ कालिदास, पृ० ८८ । ४ वही, पृ० ८४ ।

में दुनियाको विश्वास दिलानेका प्रयत्न करेगा ? और उक्त विद्वान् प्रोफेसरका यह सोचना कि कालिदासके एक श्लोकका अश्वघोषने दो बार प्रयोग किया है विचित्र-सा लगता है जबकि वे स्वय अपने तर्कके समर्थनमें[1] कालिदासके दो श्लोकोकी ओर सकेत करते है, जिनमेंसे एक कुमारसम्भवमें और दूसरा रघुवंशमें आया है । 'मद्यकी सुगन्ध'के लोपके सम्बन्धमें कहा जा सकता है कि वह 'कट्टरपथी' उसके लोपकी तो चिन्ता नही करता, किन्तु हाँ, वह उसकी कल्पनामें नही आ सकती । दूसरी ओर कालिदास अपने युगके पक्षपातो और अधिक मान्यताओसे दु खी होकर उस कथनमें अपने अन्तर्भाव प्रकट कर देते है । उनका युग, जैसा कि इस ग्रन्थमें पूर्णतया प्रमाणित हुआ है, मद्य-पानसे विशेष लक्षित था । अत. ऐसी बात नही है कि एक उस कथनका लोप करता है, किन्तु यथार्थ यह है कि युगकी भावनाके साथ सामंजस्य रखता हुआ इसका उपयुक्त प्रयोग करके दूसरा प्रकरणको सुरुचि-सम्पन्न बनाता है । आगे चलकर यह बतलाया जाता है, "क्योकि 'सौंदरनन्द' अश्वघोषका सर्वप्रथम काव्य है उन्होने अपनी रचनाके अन्तमें क्षमानिवेदक उन पंक्तियोको लिखा था । 'बद्धचरित' लिखते समय उनका कवित्व अवश्य प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था और उन्हे क्षमा-निवेदनकी आवश्यकता नही थी ।"[2] किन्तु क्या इस विचारमे कुछ दम भी है ? क्या सस्कृत-कविका आमुख, आरम्भसे अन्त-तक, क्षमा-निवेदक नही रहा करता ? और क्या जब किसी विशिष्ट कविको प्रसिद्धि मिल जाती है तो उस स्वाभाविक नियमका परित्याग कर दिया जाता है ? क्या स्वय कालिदास नितान्त नम्रता और विचारपूर्ण क्षमा-निवेदनके साथ अपनी काव्य-कलाकी विलक्षणताके परिपक्व परिणाम 'रघुवश'[3] का आरम्भ नही करते ? और क्या यह विनय-प्रदर्शन एक अनभ्यस्त लेखनीके श्रीगणेशका एक आवश्यक अग है ? क्या कालिदास फिर स्वय अपने 'मालविकाग्निमित्र'[4] में, जिसका सौष्ठव निश्चय ही

---

१ वही, पृ० ८८ । २ वही, पृ० ९० । ३ मिलाकर १.२, ३ । ४ १.२ ।

निर्विवाद नही है, मूल्यांकनके पुराने पैमानोके लिए एक ललकार नही ध्वनित करते ? क्या हम ऐश्वर्यपूर्ण महाकवि भवभूतिको अपने इन प्रसिद्ध श्लोकोंके[1] द्वारा अपने समकालीन आलोचकोंको युद्धके लिए आह्वान करते नही देखते....तानप्रतिनैषयत्न:.....उत्पत्स्यतेऽस्तिमम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुलाचपृथ्वी ? प्रोफेसर महाशयके इस कथनके सम्बन्धमे कि शक्यो और नन्दके जन्म तथा वंशके पूर्व-परिचयके इतिहासका कोई अवसर नही है और यह अश्वघोपके द्वारा रघुवंशके[2] अनुकरणमे दिया गया है, यह प्रश्न किया जा सकता है : क्या एकमात्र किसी ऐतिहासिक काव्यकी विद्यमानतासे कोई कवि अपने काव्यका पुरश्चरण, वंशावलीके साथ, करनेको प्रोत्साहित हो सकता है ? क्या साहित्यमें वंशावलीका इतिहास देनेकी प्रथा प्रामाण्य नही है ? क्या बाण अपने 'हर्पचरित' में इसी प्रथाका अनुसरण नही करते ? महाशय चट्टोपाध्याय अश्वघोपकी एक सदोप उक्तिसे किसी महत्त्वकी बातके पानेकी कल्पना करते है। वे कहते है, "उपमाका विपय है, वृपभका कन्धा न कि सिंहका। अश्वघोपने नन्दको सिंहका स्कन्द और वृपभकी आँखें दी है ! कालिदास दिलीपकी आँखोका उल्लेख नही करते किन्तु उनके स्कन्धकी समता वृपभसे दी है। अश्वघोपने परिवर्त्तन करनेका प्रयास तो किया किन्तु उनकी अपह्नुतिका रहस्य प्रकट हो गया।"[3] प्रोफेसर महाशय और भी लिखते[4] है, "या अश्वघोपकी रचनाओंमें जो परिवर्त्तन दीख पड़ता है वह उनकी भ्रमात्मक स्मरण-शक्तिके कारण भी हो सकता है।" इस निरूपणमे प्रथमत. बिना किसी आधारके यह मान लिया जाता है कि अपहरण किया गया है और फिर कल्पना-प्रसूत अनुमानपर एक दूसरे भ्रमको भी स्थान दिया जाता है। यदि कोई दोपपूर्ण समानता है, तो इसमें सन्देह नही कि वह अकृत्रिम है। एक निर्दोप छिद्रके पीछे सजग प्रयासके अन्वेपणमें कदाचित् ही कोई दृष्टि-बिन्दु लक्षित हो सकता

---

१ मालतीमाधव, १.८। २ डेट ऑफ कालिदास, पृ० ९२। ३ डेट ऑफ कालिदास, पृ० ९४ पाद-टिप्पणी। ४ वही, पृ० ९४।

है। यथार्थमें सिंहके कन्धोंका विस्तार उपमा-योग्य है और वृषभकी आँखें निस्सन्देह आदर्श रूपसे बड़ी होती हैं। विज्ञ विद्वान् महाशयकी इस अनुमतिके सम्बन्धमें कि भ्रमात्मक स्मरण शक्तिके कारण परिवर्तन ो नका होगा हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह उनके साभिप्राय प्रयत्नको खोखला बनाने वाला है। क्या यह कम विचित्र बात है कि अश्वघोषको अपनी आँखोंके सामने लानेके लिए कालिदासकी रचनाओंकी कोई प्रतिलिपि नहीं मिल सकी? यह आशा की जाती है, कि एक व्यक्ति जो किसी कविके भावोंका स्वतन्त्रताके साथ अपहरण कर रहा है और उनमें परिवर्तन लानेका जान-बूझकर प्रयत्न करना चाहता है, उसको रचनाओंकी कमसे कम एक प्रति तो अपने पास रखे! निश्चय ही ऐसे बड़े अपहरण-कार्यमें दक्षता पाने वालेको उसके समस्त ग्रन्थोंका विद्वान् होना चाहिए और ऐसी उक्त सामान्य अशुद्धिको कभी नहीं आने देना चाहिए जिसकी ओर प्रोफेसर महाशयकी उँगली उठी है। वे बतलाते हैं कि अश्वघोष-द्वारा कृत मारविजयका वर्णन 'कुमारसम्भव'[1] के कामदहन से अपहृत किया गया है। किन्तु ठीक इसका उलटा भी सम्भव हो सकता है, क्योंकि यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिए कि बुद्धदेवके जीवनमें उक्त घटना महत्त्व पा चुकी है। कालिदासके कामसे रतिके पैरोंको लाक्षा-[2] रागमें रंजित करवानेमें सुधार लानेकी चेष्टासे अश्वघोषका सुन्दरीसे उसके अपने कपोलोंको रंगवाना है—ऐसा महाशय चट्टोपाध्यायका सोचना, मनोरंजक है। इसकी पुष्टिमें वे जयदेवकी इन पंक्तियोंका प्रमाण देते हैं—'स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनं देहि पदपल्लवमुदारम्'[3]। यहाँ यह निर्देश किया जा सकता है कि यह कालिदासमें अश्वघोषका सुधार नहीं है किन्तु यह कालिदास और आगे चलकर जयदेवकी रचनाओंमें आता है क्योंकि दोनों कालिदास और जयदेव वात्स्यायनके बाद आते हैं। शिवके

१ वही, पृ० ९७। २ वही, पृ० ९७ पाद-टिप्पणी। ३ वही।

साथ उमाका पाणिग्रहण होनेकी नारदकी भविष्यद्वाणी और रघुकी[1] भावी महानताकी असितकी भविष्योक्तिकी समानान्तरताके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है कि असितका भावी कथन बौद्ध आख्यानोंकी एक घटना है जो अपनी विशेषताके कारण वहाँसे लिया गया है। प्रोफेसर कहते है, "अन्तमें इससे भी बादका 'सूत्रालंकार", यदि दिव्यावदान (पृ० ३५७-६४, ३८२-४,४३०-३) मे सुरक्षित तीन श्लोकोंके आधारपर परीक्षित हो, तो प्रथम कोटिकी रचना सिद्ध होगा जो कालिदासका स्वल्प मात्रमें भी ऋणी नही है।"[2] उन्होंने जो कुछ कहा है उसपर पानी फेरने वाली यह स्पष्ट स्वीकारोक्ति है, कारण, प्रोफेसर महाशयके कथनानुसार यदि अश्वघोष कालिदासका तनिक भी ऋणी हुए विना प्रथम श्रेणीकी रचना कर सकते थे तो क्या उनको इतना काव्य-ज्ञान नही था कि वे कालिदास के प्रभावमें आये विना वहुत निम्न श्रेणीकी रचनाएँ कर सकें ? अपने अन्तिम विचार-विन्दुको आगे बढाकर कदाचित् उक्त स्वीकारोक्तिसे खोये हुए आधारको फिर प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हुए प्रोफेसर महाशय एक पाद-टिप्पणीमें[3] कहते है—"सघके प्रति अशोककी उदारताकी एक मार्मिक कहानीवाले तीसरे उद्धरणपर रघुवशके पाँचवे सर्गकी रघुकी उदारताकी कथाका प्रभाव पड़ा हो सकता है।" इससे उलझन और भी बेतरह उलझ जाती है। क्योकि एक धर्मनिष्ठ बौद्धके लिए अशोककी उदा-रता उसकी सहायताके लिए पासमें पड़ी नही थी और न 'अशोकावदान'का कोष खुला था जिसमेंसे वह मनमाना ले सकता था। अतः प्रोफेसर महाशयके शब्दोमें ही हम कह सकते है कि "मेरे निष्कर्षोंके सम्बन्धमें कोई प्रतिवाद उपस्थित कर सकता है कि जब प्रतिपाद्य विषयकी समानता हो तो इस प्रकारके विचार-साम्य स्वाभाविक हैं और उनसे अपहरणका प्रकट होना कोई आवश्यक नही।"[4]

---

१ वही, पृ० १००। २ वही, पृ० १०६। ३ वही। ४ वही, पृ० ९२

इसी पत्रमे उठाये गये कुछ और विचार-विन्दुओंकी ओर हम यहाँ संकेत कर सकते हैं। महाशय चट्टोपाध्याय जब यह कहते हैं कि पुष्यमित्र के राज्यमें[1] खारवेलने बड़ा उत्पात मचाया तो वे सामान्य भ्रमका शिकार हो जाते हैं। क्योंकि पुष्यमित्रके नामवाली मुद्राएँ प्राप्त हो चुकी हैं, इस नृपतिका खारवेलके हथिगुम्फ शिला-लेखके बहसतिमित्रके साथ समीकरण कदापि न्याय्य नही है और इसलिए कमसे कम इस सामग्रीके आधारपर खारवेल और पुष्यमित्र सम-सामयिक नही कहे जा सकते। द्वितीय चन्द्रगुप्त के उज्जयिनी[2] के राजा समझे जानेके सम्बन्धमें प्रोफेसरके विरोध पर यह कहा जा सकता है कि अवन्ती और सौराष्ट्रके विजेता होनेके अधिकारसे वह उज्जयिनीका राजा था। हमें शिला-लेखोंसे[3] विदित है कि प्रथम कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनोंका इन दोनों प्रान्तोंपर बहुत दिनो तक अधिकार था। उनके विचारोंके सम्बन्धमें कि "जिस प्रकार कालिदासने अपने ज्योतिःशास्त्रीय ज्ञानका प्रयोग किया है उससे ज्योतिष-शास्त्रके उस प्रदेशमें अध्ययनका प्रचार सूचित होता है और कदाचित् उसका आजसे कुछ काल पूर्वके वहाँ प्रचलनका आरम्भ"[4]। इतना ही कहा जा सकता है कि यदि ई० पू० प्रथम शताब्दीमें वे शब्द ज्ञात थे तो हमे उनके प्रचलनके लिए पर्याप्त समय देना चाहिए जिसमें वे काव्यात्मक सदर्भोंमे सर्वसाधारण-द्वारा समझे जा सकें। अत. कालिदास ई० पू० प्रथम शताब्दीमें नही थे।

यह प्रमाणित करनेके लिए कि कालिदासके काल-निर्णयके लिए ई० पू० प्रथम शताब्दीका सिद्धान्त नही स्वीकार किया जा सकता हम यहाँ कुछ और दृष्टिकोण रख सकते हैं।

प्रथमत कालिदास अपनी सारी रचनाओंमें कही भी शकोंका उल्लेख नहीं करते। यदि वे ई० पू० प्रथम शताब्दीमें, ई० पू० ५७ के निकट

१ वही, पृ० ११७। २ वही, पृ० १४३। ३ प्रथम कुमारगुप्त और बन्धुवर्माका मन्दसौर शिला-लेख; स्कन्दगुप्तका जूनागढ़ चट्टान-लेख। ४ दी डेट ऑफ कालिदास; पृ० १६२।

होते तो वे गार्गीसंहिताके युगपुराणमें[1] उल्लिखित शक आक्रमणको अवश्य जानते जो ई० पू० ३५ के आसपासमें हुआ था और जिसके लिए एक संकेत अनिवार्य होता। अम्लातके[2] अधीन सीमाकी ओरसे यह एक बहुत प्रसिद्ध आक्रमण था जो शायद शक-राज अज़ेज (ई० पू० ५८–ई० पू० ११) का प्रान्तीय राजपाल था।

दूसरे, कविके सभी ग्रन्थोंमें शान्तिकाल और विलास-प्रियताका स्वच्छन्द विहार ई० पू० प्रथम शताब्दीकी आलोड़ित राजनीतिक अवस्थाकी घटना नहीं हो सकती। तीसरे, पौराणिक परम्पराएँ और विवरण जिनका इतने बाहुल्यके साथ कविकी रचनाओंमें उल्लेख होता है अविक-संख्यक गुप्तोंके संरक्षणमें संगृहीत हुए थे और ई० पू० प्रथम शताब्दीमें अभी निर्माण-चक्र पर चढ़े थे।

चौथे, हिन्दू-देवताओंकी असंख्य प्रतिमाएँ और उनके मन्दिर जिनका संकेत कवि बार-बार करता है ई० पू० प्रथम शताब्दीकी ओर लक्ष्य नहीं करते। निस्संदेह प्रतिमा-पूजा बहुत पूर्व भारतमें प्रचलित हो चुकी थी किन्तु हिन्दू-प्रतिमाओंकी विविध सज्जा कुषाणोंके पश्चात्‌के कालकी ओर निर्देश करती है। ई० सन् की प्रथम शताब्दीके महायान-नामक एक भक्ति-पंथके प्रवर्त्तनसे इसको प्रेरणा मिली थी। उसके पूर्व अधिकाश यक्षोंकी मूर्तियोंकी पूजा होती थी। यही कारण है कि कालिदासके समान अश्वघोषकी रचनाओंमें देवताओंकी प्रतिमाओंका उल्लेख उतनी अधिकता से नहीं है। यह घटनाक्रमसे कालिदासका अश्वघोषके जो ई० सन्‌की प्रथम शताब्दीके पूर्व था, होनेकी ओर संकेत कर सकता है।

इसलिए ई० पू० प्रथम शताब्दीके सिद्धान्तका अवश्य परित्याग कर देना चाहिए। उसी प्रकार होम्लेके छठी शताब्दीके सिद्धान्तका भी।[3]

---

१ दीवान बहादुर प्रो० के० एच० ध्रुव का संस्करण, जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग १६, पृ० १,२१, १.५१ मिलाकर वही, पृ० ४१। २ वही, पृ० २१, १.५८। ३ जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृ० १०९।

एम० एम० हरप्रसाद शास्त्री[1] और डा० डी० ए० भण्डारकरका[2] कालिदासको यशोवर्मनका समकालीन प्रतिपादित करनेका डा० ए० बी० कीथ[3] और महाशय बी० सी० मजुमदार[4] जैसे विद्वानों-द्वारा योग्यतापूर्वक विरोध किया जा चुका है और उसका भी परित्याग आवश्यक है। हमले और पाठकके सिद्धान्त 'कुकुम'के प्रसंगपर आधारित हैं जो प्रो० पाठकके 'सिन्धु'[5] के लिए 'वक्षु'का पाठ स्वीकार करके ठीक किया जा सकता है। हूणोंके निवासके एकीकरणके प्रकरणमें स्थान-नामोंसे सम्बन्धित अपने अध्यायमें आक्ससकी तराईमें हम केसरकी चर्चा कर चुके हैं। हमने वहाँ यह भी विवेचन किया है कि हूणोंने, जब वे पारसके बहरामगोर-द्वारा पराजित किये गये और आक्ससको जब उन्होंने अपनी सीमा मान लिया, आक्ससको पार किया और इस तराईमें ४२५ ई० में वे वहाँ बस गये। ३५० ई० में भी उन्होंने पारस पर धावा किया था और शापुर[6] महान्ने उनको पीछे हटा दिया था। अत: भारतपर आक्रमण करने और कश्मीरमें अपना निवास बनानेका हूणोंको अवसर देनेके लिए कालिदासको ई० पू० की छठी शताब्दीमें खींच लानेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। तब यह तथ्य कि कविका अनुगमन 'वत्सभट्टि'[7] ने किया है बतलाता है कि वह ४७२ ई० के पूर्व था जो शिला-लेखका वर्ष है।

---

१ जे० बी० ओ० आर० एस०, १९१६, पृ० ३१। २ अनाल्स ऑफ दी भण्डारकर इन्स्टिट्यूट, १९२७, भाग ८, पृ० २००-४। ३ जे० आर० ए० एस०, १९०९ पृ० ४३३। ४ वही; पृ० ७३१ जे० बी० ओ० आर० एस०, १९१६, पृ० ३८९। ५ मिलाकर मेघदूत, भूमिका; जे० बी० ओ० आर० एस०, १९ पृ० ३५-४३। ६ इंडियन एण्टिक्वारी, १९१९, पृ० ६६। ७ मन्दसर-लेख, मिलाकर, ५.३१ ऋतु०, ५.२, ३ के साथ; मिलाकर किलहोर्न-गोह, नाच १८९०, पृ० २५१ बुह्लर—डाइ इंण्डिसेन इन्सक्रिप्सन, पृ० ७१, जे० आ० ए० एस० १९०९, पृ० ४३३।

कवि हूण और कुमारगुप्तके शासन-कालके पुष्यमित्रके उपद्रवसे परिचित नही है अतः महाशय मनमोहन चक्रवर्तीका[1] ई० की पाँचवी शताब्दीका काल भी असगत हैं। इस कारण, वह काल, जिसमें कालिदास रहे और उन्होंने साहित्य-सृजन किया, संकीर्ण होकर ४०० ई० के लगभग रह जाता है। जैसा कि विद्याके अध्यायमे बतलाया गया है क्योंकि अधिक-संख्यक विवरणोंमें कालिदास वात्स्यायनका अनुगमन करते है वे अवश्य तीसरी शताब्दीके पश्चात् हुए जो वात्स्यायनका सर्वसम्मत काल है। इसलिए कवि अवश्य ही ४०० ई० के लगभग था। इस विचारको महाशय आर० जी० भण्डारकर,[2] कीथ[3] और स्मिथका[4] ऐकमत्य प्राप्त है।

कालिदासका गुप्तोंके समकालीन होनेके प्रमाणमें निम्नलिखित कुछ आधार रखे जा सकते हैं। इनमेंसे अधिकांश नितान्त नवीन है और कविको द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और उसके पुत्र कुमारगुप्तके शासनसे सम्बन्वित करते हैं। तथापि हम दूसरोंके साथ दो आधारोंको लेकर आरम्भ करेंगे।

कालिदास और साम्राज्यवादी गुप्तोंके शिला-लेखोंकी भाषाओंके बीच अभिव्यंजनाकी पूर्ण समानता है। कभी-कभी तो एक ही वाक्यांश कालिदासकी रचना और उक्त शिला-लेखमें दृष्टिगोचर होता है। महाशय चक्रवर्ती[5] और महाशय वसकने[6] इस सादृश्यकी पूर्णरूपेण तुलना की है और डा० एफ० डब्ल्यू० टीम्सने ऐसे असंख्य शब्दोंके हवाले दिये हैं जिनकी व्युत्पत्ति 'शप्'[7] धातुसे है। यद्यपि वे इस विचारसे सहमत नहीं है, इससे एक बात तो अवश्य ही प्रकट होती है। वह यह है कि 'शप्'

---

१ जी० आर० ए० एस०, १९०३ पृ० १८३; वही, १९०४, पृ० १५८। २ जे० बी० बी० ओ० आर० एस०, भाग २०, पृ० ३९९। ३ ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर; पृ० ८२। ४ E.H.I. पृ० ३२१। ५ जे० आर० ए० एस०, १९०३, पृ० १८३; १९०४, पृ० १५८ ६ प्रोसीडिङ्ग्स ऑफ दी सेकण्ड ओरियन्टल कौण्फरेन्स पृ० ३२५। ७ जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृ० ७४०।

धातुसे व्युत्पन्न शब्दोंका प्रयोग कालिदासको अत्यन्त प्रिय था। साम्राज्यवादी गुप्तोंके संरक्षणमें उनके रहनेके कारण ऐसा होना भी सम्भव है। इस ग्रन्थमें भी आदिसे अन्ततक सामाजिक, धार्मिक, सौंदर्यविषयक और भास्कर्य-सम्बन्धी पक्षोंके शब्दो तथा विचारोंके साम्यका उल्लेख हुआ है। हम यहाँ ऐसे तीन और सादृश्योंकी ओर संकेत कर सकते है। गुप्तों की मुद्राओ पर अंकित—'समरशत-विततविजयो जितरिपुरजितो दिवं जयति,'[1] राजाधिराजः पृथिवीं विजित्वा दिवं जयत्यावृतवाजिमेधः,[2] क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः'[3] इत्यादि कालिदासके 'पुरा सप्तद्वीपं जयति वसुधामप्रतिरथः'[4] से बिलकुल समानता रखता है। साम्राज्यवादी गुप्तोंकी[5] मुद्राओंपर अंकित मयूरासीन कार्त्तिकेय कदाचित् उनका कुल-देवता था। कालिदास कुमार तथा स्कन्दका[6] बहुधा उल्लेख करते है और मुद्रांकित मयूरवाहन कार्त्तिकेयको 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन'[7] की काव्यमयी भाषामें अनूदित करते हैं। मुहरो पर अंकित इस चिह्नका भी कालिदास संकेत करते है।

कविकी रचनाओंसे विदित होता है कि चारो ओर शान्ति और समुन्नतिका साम्राज्य था। विलासी जीवन, कला तथा साहित्यकी प्रवृत्ति और किसी जातिकी सामाजिक तथा आर्थिक महानता केवल सुरक्षित राज्यमें ही सम्भव है और कालिदासका काल उन्नतिशील और परोपकारी शासनका है। यह शासन गुप्तोंका हो सकता है। उक्त रूप-रेखाओंका उल्लेख इस ग्रथमें प्राय. सर्वत्र ही पाया जाता है।

गुप्तोंके लेखोंसे जो धार्मिक सहिष्णुता प्रकट होती है और जैसा फाहियानने वर्णन किया है कालिदासके ग्रन्थोंमें उसका समावेश है।

---

१ समुद्रगुप्त स्टैंडर्ड टाइप आब्भर्स। २ चन्द्रगुप्त प्रथम, अश्वमेध टाइप आब्भर्स। ३ वही छत्र टाइप ओब्भर्स। ४ शाकु०, ७.३७। ५ कुमारगुप्त, मोरकी तरह, उलटा। ६ रघु० २.३६, ३७, ७५, ३.१६, २३, ५५, ५.३६, ६.२, ४, ७.१, १५, ६१, ६.२४, २५, २६, १०.८३, १४.२२; कुमा०, ३.२४, २५, २६। ७ रघु०, ६.४।

पौराणिक परम्पराएँ, जिनका उपयोग कवि-द्वारा बहुतायतसे हुआ है, मुख्यतः गुप्त-कालमें ही संकलित हुई थी । हिन्दू-देवताओंकी संख्यातीत प्रतिमाएँ गुप्त-कालकी होनेके कारण, कालिदासकी रचनाओंके मुख्यांग बन गई हैं । प्राक्-गुप्त युगोंमे भास्कर्य-कलामें यक्ष और बुद्धकी मूर्तियोंका आधिपत्य था ।

उपर्युक्त कथनके अनुसार कविका समय अवश्य ही वात्स्यायनके पश्चात्का है शृङ्गारिक दृश्योंके वर्णनमें जो उसका अक्षरशः अनुकरण करता है । वात्स्यायनको ई० के तीसरी शताब्दीमें रखा गया है । परम्परा कविको विक्रमादित्यका समकालीन बनाती है और क्योंकि तीसरी शताब्दी के बाद स्कन्दगुप्तके पहले हम केवल एक विक्रमादित्य अर्थात् द्वितीय चन्द्र-गुप्तको जानते हैं, इसलिए वह ४०० ई० के लगभग ही था ।

'जामित्र'[1] और 'डायमेट्रोन'—से ग्रीक शब्दोंको वह जानता है और गुप्त-कालमें ऐसे शब्दोंका बाहुल्य था क्योंकि विदेशी शब्दोंको इस देशमें प्रचलित होनेके लिए हमें अवश्य ही प्रचुर अवधि देनी चाहिए ।

रघुने हूणोंको उनकी अपनी भूमि आक्ससकी तराईमें पराजित किया था । बेहरामगोर-द्वारा उनके पराभूत होनेपर जब पारस और उनके देशकी मध्यसीमा आक्सस बनायी गयी, वे निश्चय रूपसे ४२५ ई० के लगभग उस भूमिमें जा बसे ।

चन्द्रके महरौली लौह-स्तम्भसे जैसा प्रमाणित होता है बैक्ट्रियाकी विजय द्वितीय चन्द्रगुप्तके हाथों ही हुई थी । कविकी अन्तिम और सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण रचना होनेके कारण रघुवंशका रचना-काल ४२५ ई० के तुरंत बाद, यदि कहें तो, ४३० ई० हो सकता है ।

हम यहाँ कुछ ऐसे निर्णयात्मक भास्कर्य आधारोंको स्थान दे सकते हैं जो हमें कविकी रचनाओंसे उपलब्ध हैं ।

---

१ कुमा०, ७.१ ।

कालिदास भरतकी झिल्लीदार उँगलियो, 'जालग्रथिताङ्गुलिः करः'[1]
का उल्लेख करते है। जालीदार उँगलियोवाले भास्कर्य और सौंदर्य
आकृतियोका अप्राप्य होना विस्मयकारक है और जो कुछ मिलती भी हैं
वे केवल गुप्त-कालकी हैं। लखनऊ संग्रहालयमें रखा हुआ मानकुँवर
प्रस्तर[2] बुद्धका उदाहरण दिया जा सकता है। इसके दोनो हाथ "जालग्रथिता-
ङ्गुलिः' हैं।

कालिदास चामर[3] लिये गंगा और यमुनाके हाथोका उल्लेख करते
हैं। भास्कर्यमे देवताओकी चामरवाहिनीके रूपमें इन दो नदी-देवियोकी
मूर्त अभिव्यक्तिका प्रारम्भ, कुषाण-कलाके पश्चात् और गुप्त-कलाकी
आरम्भिक अवस्थाओंको चिह्नित करता है। इस प्रकारकी मूर्तियाँ
मथुरा[4] और लखनऊके[5] संग्रहालयोमें सुरक्षित हैं। समुद्रगुप्तकी व्याघ्रा-
कित मुद्राओंकी दूसरी ओर चामर-कमल-धारिणी[6] गंगा अंकित है।

प्राक्-कुषाण कालकी प्रतिमाओंका छत्र पीछे चलकर पादपीठसे
उठकर पीछेसे ऊपर जानेवाले प्रकाश-चक्रमें परिणत हो गया।
कुषाण-कालमें यह अनलंकृत था और प्रभामण्डल कहलाता था। बादमें
गुप्त-कालमें इसका विस्तार हुआ और इसका धरातल काल्पनिक चित्रो
तथा स्फुरणशील रश्मियोंसे अधिकांश भर गया। कालिदासके 'स्फुरत्प्रभा-
मण्डल'[7] वाक्यांशमें यह विशेषतया निर्दिष्ट होता है।

कविने कुमारसम्भवमें[8] शिवकी समाधिका जो वर्णन किया है वह
कुषाणकालीन वीरासन मुद्रामें बैठे बुद्ध तथा बोधिसत्त्वकी प्रतिमाओंसे
सर्वथा सादृश्य रखता है। कविने इन प्रतिमाओंको अपना आदर्श बनाया है।

---

१ शाकु०, ७.१६। २ मेरे मित्र डा० वी० एस० अग्रवाल मेरे ध्यान
में लाये थे। ३ कुमा०, ७.४२। ४ महोलिसे गंगाकी प्रदर्शनी नं०,
१५०७ और कत्र केशवदेव से जमुना की प्रदर्शनी १०.२६५९। ५ यमुना
चित्र १०.५५६३। ६ मिलाकर एलेन, पृ० ७४, बी० एन० सी०।
७ रघु०, ३.६०, ५.५१, १४.१४; कुमा०, १.२४। ८ कुमा०, ३, ४२-५०।

ये आधार निर्णयात्मक दृष्टि से प्रमाणित करेंगे कि कालिदास गुप्त-कालके कवि थे। उनकी रचनाओंमें जो पूर्ण शान्ति ओत-प्रोत है वह स्कन्दगुप्तके शासन तथा प्रथम कुमारगुप्तके राज्यके अन्तिम वर्षोंको असम्भव बना देता है जो पुष्यमित्र और हूणोंके उत्पादोंसे आक्रान्त था। अतः कविके कालका अधिक निचला हद ४४६ ई० में रखा जा सकता है क्योंकि ४५० ई० तो पुष्यमित्रके साथ युद्धका वर्ष था। किन्तु यदि कविने दोनों कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्तका वर्णन अप्रत्यक्ष रूपसे किया हो तो स्कन्दगुप्तके जन्म-कालमें कविकी विद्यमानता सम्भव हो सकती है। कविकी रचनाएँ विस्तृत हुई और उसकी उन रचनाओंके लिए काल-विस्तार का होना आवश्यक है। यदि वह वृद्धावस्था अस्सी वर्ष तक जीवित रहा तो उसकी निधन-तिथि ४४५ ई० के लगभग मानकर उसका जन्म-काल ३६५ ई० के लगभग हम रख सकते हैं। इस प्रकार उसका जन्म समुद्रगुप्त के शासन-कालमें हो सकता है और द्वितीय चन्द्रगुप्तके सारे शासन-काल और कुमारगुप्तके राज्यकालके अधिकांशमें उसका रहना सम्भव है। अतएव उसने स्कन्दगुप्तका जन्मोत्सव भी देखा होगा कारण, राजकुमारने जब पुष्यमित्रको मार भगाया था उस समय उसकी अवस्था कमसे कम बीस वर्षकी अवश्य होगी। यदि कविने अपना कवि-जीवन पचीसवें वर्षमें आरम्भ किया हो, तो उसके ऋतुसंहारका आरम्भ ३६० ई० के लगभग हो सकता है और उसका कार्य-काल समयका बड़ा विस्तार हो सकता है सब प्रकार उस कालको सादृश रखता हुआ जो लोक-भाषामें 'भारतीय इतिहासका स्वर्ण युग' कहा जाता है।'

——:o:——

---

१ प्रो० वी० वी० मिराशीने अपने 'कालिदास', अध्याय १, में 'कौंतलेश्वरदौत' के प्रमाणका विवेचन किया है, किन्तु यहाँ उस पुस्तकके आधार पर कोई विवेचना नहीं हुई है क्योंकि वह अभी तक अप्राप्त है।

परिशिष्ट—ख

पुष्यमित्रके साम्राज्यकी सीमा

विशाल शुंग साम्राज्यकी सीमाओंका, चारो दिशाओंमें, निर्णय करना इस परिशिष्टका उद्देश्य नहीं है। यहाँ विचारणीय विषय है, मालविकाग्निमित्रमें कालिदासका एक निरूपण जो कुछ विद्वानोंको भ्रान्तिमें डालता रहा है। उक्त नाटकके पाँचवें अंकमें विदिशाके राजा तथा अपने पिताके दक्षिण राज्यका राजप्रतिनिधि अग्निमित्रको उसका पिता सम्राट् पुष्यमित्र पत्र लिखते हुए सिंधु नदीका उल्लेख करता है। वहाँ यह कहा जाता है कि सिंधुके दक्षिण तटपर (सिन्धोर्दक्षिणरोधसि) सम्राट्के पौत्र तथा अश्वमेधके अश्वके रक्षक वसुमित्रकी ग्रीक यवनोंके साथ मुठभेड़ हुई जिनको उसने परास्त कर दिया। अतः इस परिशिष्टका मन्तव्य केवल नाटककी सिन्धु नदीका एकीकरण करना और शुंग साम्राज्यके उत्तर-पश्चिमीय सीमाका परिचय देना है। इस दृष्टिसे इस परिशिष्टका शीर्षक मिथ्या-नाम-वाचक प्रमाणित होगा, क्योंकि उस साम्राज्यकी, चारो ओर से, सीमाओंके निर्णय करनेका यहाँ कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। तथापि विवेचन कठिनाइयोंसे मुक्त नहीं है और यह प्रसंगतः कई अत्यावश्यक और रंजक बातें सामने ला खड़ा करता है। 'अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया'[1] का एक मुख्य भाग है जिसको डा० वी० ए० स्मिथने भारतपर मेनाण्डरके आक्रमणके विवेचनमें लगाया है जिसकी बहुत सी घटनाएँ और निष्कर्ष आधार-रहित तथा भ्रान्तिपूर्ण प्रमाणित होंगे। हम आगे बढ़ते हुए उनको सूचित करेंगे।

---

१ चतुर्थ संस्करण, पृ० २०६

कनिंघमका अनुसरण करता हुआ स्मिथ विचारता है कि "सिंधु नदीके किनारे, जो आजकल बुन्देलखण्ड और राजपूताने रियासतोंके[1] बीचकी सीमा है" पश्चिमी विदेशियोंने शुंग सम्राट्की ललकारका सामना करनेका निश्चय किया। वह आगे चलकर कहता है, "ये झगड़ा खड़ा करनेवाले मेनाण्डरकी सेनाके भाग रह चुके होंगे जिसने राजपूतानेमें[2] मध्यमिकाका घेरा डालनेका उद्देश्य बना लिया था।" किन्तु आगे दिये गये कुछ तथ्योंसे सरलतासे स्पष्ट हो जाता है कि स्मिथ जिस आधारपर खड़ा है वह कितना कमज़ोर है। इस विद्वान्के निष्कर्षोंके परीक्षणसे हम इसका प्रारम्भ करेंगे और इसलिए हमें कुछ पूर्वके तथ्योंका भी विचार करना पड़ेगा।

१. स्मिथ डेमट्रिसके आक्रमणके साथ मेनाण्डरके[3] आक्रमणको उलझा देता है और पुष्यमित्रको खारवेल तथा मिनाण्डर दोनोंका समसामयिक बना डालता है। 'महामेघवाहन' खारवेलके हथिगुम्फ शिलालेखके बहसतिमित्रके साथ पुष्यमित्रका समीकरण करनेवाले एक बिलकुल संदिग्ध सिद्धान्तके आधार पर पुष्यमित्र और खारवेलकी सम-सामयिकता खड़ी होती है। अब, क्योंकि पुष्यमित्रकी मुद्राएँ जिनपर उसका नाम अंकित है, उद्घाटित हो चुकी है, तो उक्त दो नामोंके शब्दों (पुष्य-बार्हस्पति) के अप्राकृतिक तथा अप्रत्यक्ष समीकरणसे चिपके रहनेके लिए कदाचित् ही कोई सुसंगत आधार रह गया है। जायसवालने स्वयं इसको एक अस्थायी कामचलाऊ अनुमानके रूपमें ग्रहण किया था। यह समीकरण सरलतासे भूतलशायी हो जाता है। तब, यदि हम जायसवालके साथ हथिगुम्फ लेखका शुद्ध पाठ 'दिमित' स्वीकार कर लें, जो बहुत अंशमें सम्भव प्रतीत होता है, तो भारतीय आक्रमणका ग्रीक नृप (यवनराज) मेनाण्डर न होकर डिमिट्रिज मे परिणत हो जाता है। एक दूसरा भी मुख्य

---

१ वही, पृ० २११। २ वही। ३ वही, पृ० २०६, २१०, २२७-२२६।

अधार्मिक था। यह सचमुच एक विदेशी आक्रमणके लिए पर्य्याप्त कारण समझा गया होगा और अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि प्रायः समसमकालीन इतिहास लेखक ग्रीक आक्रमणकारी डिमोट्रिजको धर्ममित, 'धर्मका मित्र'' कहकर नामांकित करता है। अतएव पुष्यमित्रके मगधके सिंहासन पर बैठनेके बहुत पूर्व ही यह आक्रमण हुआ था। इसके अतिरिक्त हमें खारवेलके मगधपर दो आक्रमणोंका उल्लेख मिलता है। पहले अवसरपर मगध-राजने घुटने टेक लिये। ऐसा प्रतीत होता है कि यही समय था जब ग्रीकोंका आक्रमण हुआ। हथिगुम्फ लेखके अनुसार खारवेलके दूसरे आक्रमण पर ग्रीक (यवनराज दिमित) मथुराको लौट गये और खारवेलने फिर मगधपर[2] अधिकार कर लिया। इस स्थितिमें हम कह सकते हैं कि युगपुराणके[3] अनुसार अबतक मध्यदेशमें (मगधके) राजे नष्ट हो गये थे और ग्रीक वहाँके शासक थे। इसी आधार पर फिर भी कहा जा सकता है कि उड़ियाके दबावके कारण ग्रीक मगधसे नहीं हटे किन्तु उन्होंने ऐसा इस कारण किया कि उनमें एक गृह-युद्ध आ उपस्थित हुआ। यह युक्रेटाइडका विद्रोह था जिससे विवश होकर जस्टिनके[4] 'रेक्स इन्डोरम', डेमेट्रिजको निराशापूर्ण शीघ्रताके साथ तेजीसे उत्तरकी ओर लौटना पड़ा। चाहे जो हो, उड़ियाके उस महाराजके स्तुति-पाठके लिए यह घटना एक महान वृत्तान्त बन गई। पतंजलि भी पाणिनिके 'शूद्राणामनिरवसितानाम्'[5] की उक्ति पर टीका करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से आर्यावर्त्तसे ग्रीकोंके लौट जानेका उल्लेख करते हैं। इस कारण, यदि यह सब शालिशुक मौर्यके शासन-कालमें या उसकी

---

१ जे० बी० ओ० आर० एस०, १६.३, १६२८, पृ० ४०१, १.१६। २ वही, पृ० ४०३, १.४०। ३ यवना ज्ञापयिष्यन्ति नश्येरन् च पार्थिवा वही, १.४१। ४ ४१, ६, ४, डेमेट्री रेजिस इन्डोरम मिलाकर ग्रीक्सः इन बेक्ट्रिया एन्ड इन्डिया, पृ० १५४। ५

इन दोनोंमें साकेतका उल्लेख शामिल है। 'युगपुराण'की वार्त्ताओंका विश्लेषण करनेपर हमें पता चलता है कि मगधपर एक ही नही, अनेक आक्रमण हुए हैं। स्मिथ उनको केवल एक समझता है और इसको पुष्य-मित्रके[1] शासनके अन्तकालमे हुआ मानता है, जिसका आक्रमणकारी था मेनाण्डर ! किन्तु यथार्थमें जैसा कि हथिगुम्फ-लेख[2] तथा युगपुराण[3] मे प्रमाणित होता है पहला आक्रमण डेमेट्रिजके अधीन हुआ था जिसका सेनापति मेनाण्डर पूर्वकी[4] ओरसे धावाका सचालन कर रहा था। कुछ कालके लिए ग्रीक पाटलिपुत्रके सर्वेसर्वा रहे। राजाओंका लोप हो गया और यूनानियोंका[5] शासन-दण्ड चलने लगा। प्रान्त छिन्न-भिन्न हो गये और उनमे अव्यवस्था[6] तथा अराजकताका साम्राज्य छा गया। किन्तु यूनानी मध्यदेशमें अधिक काल तक नही ठहर सके[7] और डेमेट्रियस को कपटी युक्रेटाइड-द्वारा प्रज्वलित अग्निकाण्डको बुझानेके लिए घरकी ओर शीघ्रतासे लौटनेको विवश होना पड़ा। आवश्यकताने उसे अपने पूर्वीय अधिकृत राज्योको मेनाण्डरके अधीन छोड़ जानेको बाधित किया और मेनाण्डर शाकलमें राजा बन बैठा। यदि हम प्रो० ध्रुवके[8] साथ शाकलका पाठ स्वीकार करें तो यहाँ युगपुराण एक मनोरजक वृत्तान्त उपस्थित करता है। शाकलके यूनानी-शिविरसे सात शूर-वीर योद्धा निकल पड़ते हैं, एक अन्तर्युद्ध आरम्भ हो जाता है और यूनानी-नेताओंका इस दुर्घटनामें अन्त हो जाता है। इसके पश्चात् एक और आक्रमण पूर्वकी

---

१ E.H.T. चतुर्थ संस्करण, पृ० २१०, ११६। २ यवनराज दिमित। ३ जे० बी० ओ० आर० एस०, १४.३, १९२८, पृ० ४०३, १.४०। ४ ग्रीस इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० १४०। ५ जे० बी० ओ० आर० एस०, वही, १.४१। ६ आकुला विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः। वही, पृ० ४०२, १.२५। ७ मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः। वही, पृ० ४०३, १.४२। ८ जे० बी० ओ० आर० एस०, १६.१ पृ० २०.१.२२।

ओर बढ़ता है और वह कदाचित् मेनाण्डरके अधीन। तलवारें म्यानोंसे निकल पड़ती हैं, ढालसे ढाल टकराती हैं। यह साकेतके समीपकी घटना है और पूर्व पश्चिमसे आ मिलता है। एक तूफान आता है और उसके फलस्वरूप निस्तब्धता छा जाती है: पराजित विदेशी सेना अव्यवस्थित हो भाग खड़ी होती है। और यदि हम प्लुटार्कके इस कथनको मान लें कि शिविरमें लड़ता हुआ मेनाण्डर मारा[1] गया, तो पुष्यमित्रको छोड़कर वास्तव में उसका अजेय हठी शत्रु दूसरा कौन हो सकता है? अब दो यूनानी आक्रमणोंके मध्य काल-विस्तारमें अनेक युग आ गये होंगे। इनमें तीन मौर्य शासन बीत गये, अन्तिम मौर्य नृपकी हत्या और पुष्यमित्र-द्वारा मगध सिंहासनके अपहरणकी सफल चेष्टाएँ हुईं, अश्वमेधकी प्रथम क्रिया समाप्त की गई और एक दीर्घकालीन शासनकी स्थापना हुई। इसके उपरान्त मेनाण्डरने खोये हुए राज्यको पुनः प्राप्तकर डिमेट्रियसके राज्यको सुदृढ करनेका जोरदार प्रयत्न किया। मेनाण्डर डिमेट्रियसके पूर्वी अधिकारोंका उत्तराधिकारी तथा पहलेकी मगध-विजयके समय उसका सहायक होनेके अधिकारसे उनको अपना समझता था। किन्तु उसकी दुरभि-सन्धियाँ ब्राह्मण धर्मानुयायी-प्रवर पुष्यमित्र-द्वारा, जो पतजलिका ब्राह्मण धर्मके पुनरुद्धारकका आदर्श था निराकृत कर दी गईं। और इसी समय जब पश्चिमका तूफान चला गया था, शाकलका सिंहासन खाली पड़ा था और तक्षशिला तथा सिन्धुके आसपासके अधिकृत भाग अनिश्चित हो गये थे कि एक योग्य भारतीयने शत्रुको पूर्णतया मिटाने और सिन्धुके सदिग्ध राज्य पर अपना अधिकार स्थापित करनेका विचार किया। इसके परिणाम-स्वरूप दूसरा अश्वमेध किया गया। अश्वमेधके चपल अश्वके वीर रक्षक और उग्रकर्मा पुष्यमित्रका पौत्र वसुमित्रने आर्यावर्त्तकी विशाल मालभूमिको रौंद दिया और शाकलकी नृप-हीन राजधानी तथा तक्षशिला को तूफानकी तरह पार करता हुआ सिन्धुकी एक तराईमें सामना करनेके

---

[1] ग्रीक इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० २२८, (मौर०, ८२१)

लिए एकत्रित यूनानियोको कुचल डाला और इस प्रकार अपने पितामहके भारतके सम्राट् होनेके अधिकारको चारो ओर घोषित कर दिया। टर्न सिकन्दर और डिमेट्रियसके[1] भारतपर विजय प्राप्त करनेकी लक्ष्य-प्राप्ति को योजनाओमे समानता वतलाता है। यह समानता इस दृष्टिसे पूर्ण कही जा सकती है कि यह भारतके पक्षमें भी उसी प्रकार सिद्ध हो सकती है। यह कहा जा सकता है कि डेमेट्रियसके सामने जिस प्रकार सिकन्दरका आदर्श था ठीक उसी प्रकार पुष्यमित्रके समक्ष सम्भवतः चन्द्रगुप्तका। किन्तु ठीक जिस प्रकार सिकन्दर कुछ नही कर पाया डिमेट्रियसकी योजनाएँ भी व्यर्थ हो गई। मेनाण्डर ही था जिसने अपने स्वामी डिमेट्रियसके राज्यों पर अधिकार स्थापित करनेकी चेष्टा की ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सेल्यूकसने अपने स्वामी सिकन्दरके खोये हुए राज्यको फिर प्राप्त करनेका प्रयत्न किया था। किन्तु जिस प्रकार सेल्यूकस चन्द्रगुप्त मौर्यसे पराभूत होकर अपने जीवनके आश्चर्यको पाया था उसी प्रकार मेनाण्डरको पुष्प-मित्रसे हार खानेपर विस्मय हुआ था। नम्र यूनानियोंके सामने अपनी मांगें उपस्थित करनेमें भारतीय राजा कम स्फूर्ति नही रखता था। सन्धिकी शर्तकी पूर्तिमें क्या चन्द्रगुप्तको सेल्यूकसकी पुत्रीके रूपमें एक यूनानी राजकुमारी नही मिली थी? वैसी स्थितिमें आया हुआ पुष्यमित्र फिर क्यो पीछे रह जाता? यही कारण है कि युगपुराण हमे वतलाता है कि किस प्रकार उसने एक यूनानी राजकुमारीके पाणिग्रहणकी माँग रखी थी, हो सकता अपने पौत्रके लिए (कारण, वह साठ वर्षोसे अधिकका हो चुका था) और अपने उद्देगकी सिद्धिमें इस वात पर पूरा वल देता हुआ वह उत्तरके एक शिविरमें[2] मरा। 'अशोकावदान'[3] भी इस प्रमाण को पुष्ट करता है जिसका लेखक कदाचित् पुष्यमित्रका[4] वयसमें छोटा

१ वही, पृ० १३१। २ जे० वी० ओ० आर० एस०, १६.१, १९३०, पृ० २१.२.४४ मिलाकर भी जायसवालके पाठ, वही, १४.३, १९२८, २.८४। ३ (तारानाथ), पृ० २२९। ४ ग्रीस इन वैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० १७७।

सम-सामयिक था। शायद अग्निमित्र, जिसने अपने पिता-द्वारा आरम्भ किये गये युद्धको[1] चलाया, पुष्यमित्रके उद्देश्यको[2] पूरा करनेमें सफल हुआ।

२. मेनाण्डरकी पराजयके साथ यूनानी युक्त प्रान्तको अवश्य छोड़कर चले गये होंगे और इस प्रकार देशका यह भाग एक सुरक्षित नास्तिक बौद्ध[3] नृपके शासनमें रहा। यवन पश्चिमी पंजाबके सुदूरस्थ भागमें ही अपने अधिकार रखनेको विवश हुए होंगे। यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि पुष्यमित्र-जैसे सम्राट्ने, जो दो अश्वमेधोंको[4] सम्पन्न करनेवाला था, अपने उस शत्रु मेनाण्डरके अनुयायियोंको जिसको उसने पराजित किया था एक हानिकर दूरी पर डटे रहनेको छोड़ दिया हो जो उसकी नयी विजयमें प्राप्त साम्राज्यकी रक्षाको आतंकित करनेवाले थे और जिनकी सेनाका एक दस्ता सचमुच ही उसके पौत्रोंके साथ भिडन्त कर चुका था।

३. इस पक्षमें एक और दूसरे प्रमाण पर विचार किया जा सकता है। अशोकावदान कहता है कि पुष्यमित्र बौद्धोंपर महान् अत्याचार करनेवाला था जिनके विहारोंको जालधरतक[5] उसने जला डाला। इस कथाकी सत्यतामें सन्देह किया गया है और इस कथनको अतिशयोक्ति समझा गया है।[6] किन्तु ऐसा एक भी साक्षी नहीं है जो कथाकी घटना का विरोधक हो और इसको मनगढन्त अतिशयोक्ति माननेमें कदाचित् ही कोई औचित्य हो। शायद अभी कुछ ऐसी भूमि है, जहाँ कोई पैर नहीं पहुँच सका है और कुछ ऐसे साक्षी भी हैं जिनका परिमाण ठीक प्रकार नहीं लिया जा सका है,—जिनका विवेचन नीचेकी पंक्तियोंमें किया गया है। अशोकके बादके मौर्य ऐसे शासक थे जो बौद्ध या जैन धर्ममें दीक्षित

१ जे० बी० ओ० आर० एस०, १६.१, १९३०, पृ० ३६। २ वही। ३ 'मिलिन्दपञ्ह' के प्रमाणसे प्रमाणित होता है कि मेनाण्डरने बौद्ध धर्म को ग्रहण किया था। ४ पुष्यमित्र का अजोध्य लेख। ५ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० २१३। ६ वही।

थे और उनकी इन धर्मोंमें बड़ी श्रद्धा थी। हम इसके परिणाम-स्वरूप असमानताओंके विषयमें सदा पढ़ते हैं जो ब्राह्मण-धर्मके माननेवालोंके भाग्यमें अक्सर आ पड़ती थीं। जब कभी कोई ब्राह्मण धर्मका माननेवाला अधिकारारूढ़ होता तो बौद्ध संघ उसके विरुद्ध षड्यंत्र करनेमें पर्याप्त योग देता दृष्टिगोचर होता। पुष्यमित्र बौद्धोंसे घृणा करनेवाला था और मौर्य वंशके अन्तिम बौद्ध सम्राट् बृहद्रथको दिनदहाड़े मारकर उसका साम्राज्य ले लिया था। उसके हाथों की गई यह सफल क्रान्ति उस ब्राह्मण धर्मीय षड्यंत्रका परिणाम थी जिसका वह नेता हुआ होगा। वह स्वयं ब्राह्मण होनेके अतिरिक्त कुछ कालके लिए असित ब्राह्मण-संस्कृतिका महान् पुनरुद्धारक भी था। उसने बहुत दिनोंसे विस्मरणके गर्भमें पड़े अश्वमेध तथा दूसरे संस्कारोंको पुनः जीवित किया और वह अवश्य ही बुद्ध और महावीरके अनुयायियों-द्वारा भय और घृणासे देखा जाता होगा। जैनों और बौद्धोंके क्रोधका ठिकाना न रहा होगा। बौद्ध षड्यंत्र करने पर उतर आये। बहुत कुछ सम्भव है कि वे एक चिर-कालीन बौद्ध राज्य की पृष्ठभूमि और देशके अपने असंख्य सहानुयायियोंके साथ मिलकर दुरभिसन्धिमें लग गये हों। यहाँ थोड़ा विषयान्तर हो हम स्मिथकी मीमांसा कर लें। यदि हम स्मिथ-द्वारा उपस्थित की गई सामग्रियों पर विश्वास करें तो ब्राह्मणधर्म-विद्वेषी धर्मोंको माननेवाले शासकों-द्वारा ब्राह्मण सम्राट्के विरुद्ध किये गये दो आक्रमण उसके परिणाम थे। दोनों आक्रमणोंका एक साथ होना साजिससे भरा है और इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। यह सम्भव है कि जैनों और बौद्धोंने इस ब्राह्मण-धर्मके पुनरुद्धारक और पशु-हिंसकके विरोधको अपना सामान्य लक्ष्य बनाया हो और यह असम्भव नहीं है कि उनका सम्मिलित षड्यंत्र खारवेल के आक्रमणके साथ कोई उद्देश्य रखता हो। इससे भिन्न नन्दके अपने सम-सामयिक उत्तराधिकारीके विरुद्ध परिशोधकी खारवेलकी भावनाएँ भी थीं, जिसने कलिंगके सिंहासनपर उससे पूर्व अभिषिक्त एक राजाको अपमानित कर एक जैन-प्रतिमाको बलपूर्वक उठा ले जानेका साहस किया

था। पहला आक्रमण आया और खदेड़कर दूर कर दिया गया। दूसरेकी प्रचण्डतासे लाचार हो पुष्यमित्र निर्वासित हो मथुरामें रहने लगा। किन्तु अपने छली शत्रुओंके लिए वह कूटनीतिज्ञ अजेय विरोधी प्रतीत होता है क्योंकि उसने शीघ्र ही अपने राज्यपर फिर अधिकार कर लिया और देशमें अपना प्रभाव स्थापित करनेमें कृतकार्य हुआ। किन्तु तथापि हम इस विषयमें स्मिथके साथ सहमत नहीं हैं या अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिए उसके तर्ककी सहायता नहीं चाहते। विध्वंसकारी प्राणपनसे अपने कार्यमें लगे थे और अपने धर्मकी रक्षाके लिए उन्होंने बौद्ध नृप मेनाण्डरकी सेवा प्राप्त की। यह डेमेट्रियसके लौट जाने और शाकलमें मेनाण्डरके शक्तिसम्पन्न होनेपर घटित हुआ। मेनाण्डर नव-दीक्षित सहधर्मीकी उमगों और राज्य-गर्वकी वैयक्तिक योजनाओंके साथ आया और दूर पूर्व तक घुस गया। किन्तु वह भुज-दण्ड जिसने बृहद्रथ पर आघात किया और बौद्ध मौर्योंके साम्राज्यको ऐंठ लिया था उसका सामना करनेके लिए शक्तिशाली था और आक्रमणकारी आघातपूर्वक पीछे हटाया गया और छिन्न-भिन्न कर दिया गया। शुंग-सेनापतिका क्रोध, जो आक्रमणके मूल कारणको (यानी बौद्धोंके षड्यन्त्रको) अच्छी प्रकार समझ सका होगा स्वभावतया इतनी प्रचण्डता तक पहुँच गया कि ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपनी विजयके बाद बौद्ध भिक्षुओंका वध करते और अपने तथा अपने धर्मके विरुद्ध षड्यन्त्रके केन्द्र उनके विहारोंको जलाते हुए मेनाण्डरके अनुयायियोंको दूरतक खदेड़ता रहा और यह बिलकुल सुसगत है कि अशोकावदान-कथामें जालधर तक तथा शाकलके आसपास बौद्ध विहारोंको जलानेका हवाला दिया गया है क्योंकि उसने प्रत्येक श्रमणके सिरके लिए, कहा जाता है, एक सौ सुवर्णमुद्राएँ[1] मूल्यमें, रखी थी। हम यहाँ ध्यानमें

---

[1] पुष्यमित्रो यावत् संघारामा भिक्षूंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः। स यावच्छाकलम् प्राप्त.। तेनाभिहितम्—यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि। दिव्यावदानमें अशोकावदान।

रख सकते हैं कि इन दिनों शाकलमें बौद्धोंका जमघट लगा रहता था और राजधानी शुंग नृपति के अधिकारमें कही जाती है। यह कथा हमें बिलकुल सत्य जँचती है और इस आधार पर कि ब्राह्मणधर्मके अनुयायी शासक सामान्य रूपसे उदार-प्रकृति थे, यह मानना कि पुष्यमित्र ऐसा क्रूर नहीं हो सकता, हमें मान्य नहीं। अशोकके वधकी कथा तो विवरणमें आती ही है। कथाकी सत्यता अस्वीकार नहीं की जा सकती, विशेषकर उस अवस्थामें जब कि एक ऐसे व्यक्तिके सम्बन्धमें अवाञ्छित कल्पना की जाती है जो आजीवन ऐसा सैनिक रहा कि उसकी उपाधि ही सेनापतिकी हो गई और जिसने सम्राट्के स्थानमें सेनापतिकी संज्ञाको अपने लिए अधिक पसन्द किया और जिसके लिए खूँरेजियोंसे भरे युद्ध और बलिदान आमोदकी वस्तु थे। तब हमें अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि पाटलिपुत्रपर अधिकार करना तथा साकेत और मध्यमिकाके घेरे उसके मस्तिष्कमें बिलकुल ताजे रहे होंगे और उन्होंने आक्रमणकारी ग्रीकों और राष्ट्रिय अपराधके अपराधी बौद्ध श्रमणोंसे पूर्णरूपेण परिशोध लेनेके लिए उसे प्रेरित किया होगा।

४. सम्राट्-द्वारा किये गये दो अश्वमेधोंमेंसे मालविकाग्निमित्रमें[2] वर्णित द्वितीय प्रतीत होता है और इस बातको दृष्टिमें रखते हुए कि उसका पौत्र इतने वयसका हो गया था कि एक राजसूय यज्ञके लिए दीक्षित अश्व की रक्षामें सेनाके साथ विदेशोंमें जानेका साहस कर सका, यह यज्ञ पुष्यमित्र के शासनके अन्तिम भागमें किया गया था जब उसका कुछ अंश अवशेष था। हम जानते हैं कि 'मालविकाग्निमित्र'में अग्निमित्र अवस्था पार करनेपर मालविकाके साथ प्रणय-व्यापार करता और अनेक पत्नियों तथा बच्चोंके साथ गृहस्थी चलाता चित्रित किया गया है। इन बातोंसे यह सिद्ध होता है कि यह पुष्यमित्रका, जो अब वृद्ध हो गया था, द्वितीय यज्ञ था। इस समय तक आशा की जाती है कि उसके ऐसी तेजस्विता,

---

१ ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० १७७। २ पृ० १०२।

अग्रगामिता तथा विलक्षणता वाले पुरुषने अपने साम्राज्यको सुदृढ कर लिया होगा और उसे शान्तिपूर्ण तथा उन्नत बनाया होगा। इस बहसमें कोई बल नहीं है कि जिस यूनानी सेनाको वसुमित्रने सिन्धुके किनारे हराया था वह एक विशाल सैन्यके पृष्ठ-रक्षक दस्तेका एक भाग हो सकती है और यह सिन्धु बुन्देलखण्डके पासकी एक छोटी-सी नदी है। तब प्रमाणित करनेका विषय अब यह रह जाता है कि यह कलिसिंध पुष्यमित्रके राज्यसे होकर नहीं बहती थी। इसके विरुद्ध यह सिद्ध हो सकता है कि इस नदी की तराई पर पिता-पुत्र शुंगोंका अधिकार रहा। किस प्रकार यह कल्पना भी सम्भव हो सकती है कि अग्निमित्रकी राजधानी विदिशासे कुछ ही दूर पर बहनेवाली कलिसिंध पुष्यमित्रके राज्यसे बाहर थी? अतः क्योंकि शाकल,[1] मालवा और विदर्भके रक्षाधीन राज्य[2] (बरार) के आस-पासके प्रदेश शुंग-सम्राट्के चरणों में पड़े थे और क्योंकि कलिसिंधु की पूरी धारा उसके राज्यमें प्रवाहित होती थी, यह निर्विरोध विचार नहीं किया जा सकता कि पुष्यमित्रके शासनके अन्तके समय इस नदीके तटपर एक ग्रीक सेना ठहरी और उसके उत्थानको आपत्तिमें डाल सकी।

५ मथुरा, जहाँ, स्मिथके अनुसार, खारवेलसे पराजित होनेके पश्चात् सेनापतिने विश्राम लिया था, उसके राज्यके बाहर पश्चिममें अवस्थित नहीं हो सकता और न वह उसके राज्यकी अन्तिम पश्चिमी सीमापर ही हो सकता है क्योंकि हमें द्रोही बौद्धों और महत्त्वाकांक्षी मेनाण्डर का ख्याल रखना होगा जिसका राज्य उसके राज्यके साथ समसीमान्त था। किन्तु जब हमारे सामने 'अशोकावदान' (उपर्युक्त) के प्रमाण हैं तो हम स्मिथकी असफलतापर अपने सिद्धान्तको आधारित नहीं करेंगे। वह कहता है कि शाकल एक शुंगके अधिकारमें था। अत. मथुरा भी

---

१ अशोकावदानमें पुष्यमित्र के अधिकारमें कहा गया। मिलाकर पढ़िये—ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया, पृ० १७७।

२ मालविकाग्निमित्र, ५.१३।

उसके साम्राज्यमें शामिल था। इस प्रकार यदि शाकल उसके साम्राज्यमें था जिसकी सत्यतामें अब कोई सन्देह नहीं है, यह केवल प्राकृतिक तथा तर्क-संगत है कि हम इस नगरके परे कहीं एक सिन्धुकी खोज करें, कारण, कलिसिन्धु शाकलके भारतीय इलाकेमें और अधिक दूरपर ठहरेगी। और शाकलके परे केवल एक ही सिन्धु है जिसको हम जानते हैं और वह सिन्धु नदीके सिवा और कोई दूसरी नहीं है।

६. अश्वमेध यज्ञ स्पष्टतया उन देशों पर विजयका संकेत करता है जो यज्ञकर्त्ताके राज्यके बाहर हैं। उसके यज्ञके अश्वको अपने देशमें सम्भवतः कोई बाधा नहीं होती और क्योंकि कलिसिंध सेनापतिके साम्राज्य में बहती थी अश्व अवश्य शाकलको पार कर गया होगा और उसके नेताने अवश्य ग्रीकोंका सामना सिन्धु नदीके तट पर ही किया होगा।

७. अन्तमें, जैसा हमें 'मालविकाग्निमित्र' से ज्ञात होता है, वसुमित्र की माता धारिणी और उसका पिता अग्निमित्र, अपने पुत्रकी विजयपर बहुत प्रसन्न होते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि वे उसके लिए बहुत चिन्तित थे जिसकी पुष्टि आगे चलकर माँके कथनसे होती है; अति घोरे खलु पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः[२]—हमारे कुमारको सेनापतिने एक संकटपूर्ण कार्यमें लगा दिया है। अब हम जानते हैं कि उनको अपने पुत्रकी विजयकी बात पुष्यमित्रके[३] एक पत्रके द्वारा प्राप्त होती है। यह एक विचित्र बात होती यदि कलिसिंधके किनारे युद्ध हुआ होता जो अग्निमित्रके राज्यमें बहती थी। वह पहला व्यक्ति होता जिसको अपने पड़ोसमें लड़े जानेवाले युद्धके परिणामकी सूचना प्राप्त होती। इस तर्क पर बल देना व्यर्थ होगा कि वह अन्तःपुरके वैयक्तिक व्यापारमें अधिक व्यस्त था और राजनीतिमें उसकी गंभीर चिन्ता नहीं थी क्योंकि वह स्वयं अपनेको विदर्भके प्रसंगके समाधानमें पूर्णतया जागृत प्रकट करता है। सूचना अग्निमित्रके यहाँसे न आकर सेनापतिके यहाँसे आती है क्योंकि वह सीमास्थित सिन्धुके पास

१ पृ० १०२-१०४। २ वही, पृ० १०१। ३ वही, पृ० १०२।

की युद्धभूमिसे अधिक निकट था और संवादवाहक जो वसुमित्रके यहाँसे विजयका संवाद लाया था पाटलिपुत्र[1] में कार्य-सम्पादनके लिए भेजा गया था।

उपर्युक्त कुछ पृष्ठोंमें जिन आधारोंपर विवेचना की गई है वे मालविकाग्निमित्रकी सिन्धु नदीका एकीकरण सीमास्थित सिन्धुके साथ करनेके लिए पर्याप्त हैं।

---

१ मैंने यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटीके पत्रों तथा १९४३ ई० के बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय (रजत-जयन्ती अंक) में सिन्धु-समस्या पर विचार किया था।

प्रयुक्त या सांकेतिक साहित्यकी ग्रन्थानुसूची

[अ]

१. संहिताएँ

१ ऋग्वेद
२ यजुर्वेद
३ सामवेद
४ अथर्ववेद
५ वाजसनेयी
६ तैत्तिरीय

२. ब्राह्मण

७ शतपथ
८ ऐतरेय
९ तैत्तिरीय
१० शांख्यायन

३. उपनिषद्

११ बृहदारण्यक
१२ कठ
१३ तैत्तिरीय
१४ ईश
१५ श्वेताश्वतर
१६ छान्दोग्य
१७ भगवद्गीता

४. उपवेद

१८ धनुर्वेद
१९ आयुर्वेद

५. सूत्र

२० आपस्तम्ब धर्मसूत्र
२१ बौधायन
२२ शौनक
२३ पारस्कर
२४ आश्वलायन गृह्यसूत्र
२५ ब्रह्मसूत्र (वेदान्त)
२६ सांख्यसूत्र
२७ योगसूत्र
२८ कामसूत्र

६. व्याकरण

२९ पाणिनिकृत अष्टाध्यायी
३० पतञ्जलिकृत महाभाष्य

७. धर्मशास्त्र

३१ मनुस्मृति
३२ याज्ञवल्क्यस्मृति
३३ नारदस्मृति
३४ बृहस्पतिस्मृति
३५ वशिष्ठस्मृति
३६ विष्णुस्मृति

८. पुराण

३७ वराह
३८ मारकण्डेय
३९ कालिका
४० स्कन्द
४१ अग्नि
४२ पद्म
४३ मत्स्य
४४ वायु
४५ विष्णु
४६ कूर्म
४७ भविष्य
४८ ब्रह्म
४९ श्रीमद्भागवत
५० देवी भागवत

५१ ब्रह्माण्ड
५२ हरिवंश
५३ नलोपाख्यान
५४ गार्गीसंहिताका युगपुराण

९. महाकाव्य

५५ रामायण
५६ महाभारत

१०. काव्य [कविकी रचनाएँ]

५७ अभिज्ञानशाकुन्तल
५८ विक्रमोर्वशीय
५९ मालविकाग्निमित्र
६० रघुवंश
६१ कुमारसम्भव
६२ मेघदूत
६३ ऋतुसंहार (निर्णयसागर संस्करण)

[अन्य कवियोंकी रचनाएँ]

६४ किरातार्जुनीय
६५ उत्तररामचरित
६६ महावीरचरित
६७ बुद्धचरित
६८ सौन्दरनन्द
६९ मालतीमाधव
७० दशकुमारचरित
७१ नागानन्द
७२ रत्नावलि
७३ मृच्छकटिक
७४ रामचरितमानस (हिंदी)

११. राजनीति शास्त्र

७५ कौटिल्य अर्थशास्त्र
७६ कामन्दकीय नीतिशास्त्र
७७ शुक्रनीति
७८ पञ्चतंत्र
७९ हितोपदेश

१२. बौद्ध-ग्रंथ

८० विनय पिटक
८१ संयुत्तनिकाय
८२ मज्झिमनिकाय
८३ दीघनिकाय
८४ अंगुत्तरनिकाय
८५ अट्ठकथा
८६ थेरीगाथा
८७ अभिधर्मकोश
८८ दिव्यावदान
८९ महावस्तु
९० जातक
९१ महावग्ग

१३. ज्योतिष

९२ सूर्यसिद्धान्त
९३ सिद्धान्तशिरोमणि
९४ गार्गीसंहिता
९५ पञ्चसिद्धान्तिका

१४. वैद्यक

९६ सूत्रस्थान

९७ अष्टांगहृदय
९८ वाग्भट
९९ अजीर्णामृतमंजरी
१०० अंजननिदान
१०१ रसरत्नावलि
१०२ चिकित्साकल्प

१५. अलंकार

१०३ नाट्यशास्त्र
१०४ काव्यादर्श
१०५ साहित्यदर्पण
१०६ दशरूपक
१०७ काव्यमीमांसा

१६. कोश

१०८ अमर
१०९ विश्व
११० मेदिनी
१११ शब्दार्णव
११२ हेम

१७ जीवन-चरित, इतिहास और रोमांच-वृत्त

११३ हर्षचरित
११४ वल्लालचरित
११५ कादम्बरी
११६ राजतरंगिणी

[ब]

१८. मूलपर भाष्य

११७ पतंजलिका महाभाष्य
११८ अत्यकथा-परमात्यदीपिनी
११९ योगसूत्रभाष्य
१२० महाभारतपर चरित्रवर्द्धन
१२१ शाकुन्तलपर राघवभट्ट
१२२ विक्रमोर्वशीयपर रंगनाथ
१२३ मालविकाग्निमित्रपर काटयवेम
१२४ रघुवंशपर मल्लिनाथ
१२५ रघुवंशपर वल्लभ
१२६ रघुवंशपर हेमाद्रि
१२७ कुमारसम्भवपर मल्लि-नाथ
१२८ मेघदूतपर मल्लिनाथ
१२९ मेघदूतपर दक्षिणावर्त्तनाथ
१३० ऋतुसंहारपर मणिराम
१३१ अमरकोशपर क्षीरस्वामी
१३२ वीरमित्रोदय

१९. मिश्रित मूल

१३३ वृहत्संहिता
१३४ मानसार
१३५ पालकाप्यका हस्त्यायुर्वेद
१३६ शारंगधरपद्धति
१३७ भैरवतंत्र
१३८ हारावलि
१३९ प्रयोगरत्न
१४० तत्त्वसमास
१४१ चैतन्यचरणामृत

[स]

२०. टीका-अनुवाद-सहित मूल-पाठका अर्वाचीन संस्करण

१४२ मैक्समूलरकृत ऋग्वेद संहिता
१४३ आर० शाम शास्त्रीकृत अर्थशास्त्र
१४४ विनयकुमार सरकारकी शुक्रनीति
१४५ सर ऑरेल स्टीनकी राजतरंगिणी
१४६ एच० एच० विल्सनका विष्णुपुराण
१४७ जौलीकी नारदस्मृति
१४८ मोनियर विलियम्सका शाकुन्तल
१४९ एम० आर० कालेका शाकुन्तल
१५० सर विलियम जोन्सका शाकुन्तल
१५१ गोडबोलका शाकुन्तल
१५२ रविदत्तका शाकुन्तल
१५३ एस० पी० पण्डितका विक्रमोर्वशीय
१५४ एम० आर० कालेका मालविकाग्निमित्र
१५५ सी० एच० टौनीका मालविकाग्निमित्र
१५६ वेबरकृत मालविकाग्निमित्र
१५७ एस० पी० पण्डितका मालविकाग्निमित्र
१५८ जी० आर० नन्दर्गिकरका रघुवंश
१५९ एस० पी० पण्डितका रघुवंश
१६० एम० आर० कालेका रघुवंश
१६१ आर० कृष्णमचरियरका रघुवंशविमर्श
१६२ एम० आर० कालेका कुमारसम्भव
१६३ तारानाथ तर्कवाचस्पतिका कुमारसम्भव
१६४ के० एम० बनर्जीका कुमारसम्भव
१६५ टी० एच० ग्रिफिथका कुमारसम्भव
१६६ के० बी० पाठकका मेघदूत

१६७ एम० आर० कालेका मेघदूत
१६८ हुकका मेघदूत
१६९ गेण्डेवालका मेघदूत
१७० राजा लक्ष्मण सिंहका मेघदूत
१७१ एम० आर० कालेका ऋतुसंहार
१७२ के० जी० ओकका 'क्षीर स्वामी आन दी अमरकोश'
१७३ एच० एच० विल्सनका उत्तररामचरित
१७४ एच० एच० विल्सनका मालतीमाधव
१७५ गिरिजाप्रसन्न मजुमदार-कृत उपवनविनोद
१७६ थिवट और सुधाकर द्विवेदी-कृत पंचसिद्धान्तिका

२१. परदेशीय ग्रन्थोंका अनुवाद

१७७ मक्क्रीडलकृत 'ऐंसियण्ट इंडिया ऐज डिस्काइब्ड बाइ मेगस्थनिज एण्ड ऐरियन
१७८ विलफ्रेड एच० स्कोफ-कृत 'दी पेरिप्लस आफ दी इरिट्रियन सी'
१७९ एस० एन० मजुमदार-कृत 'मक्क्रिन्डलस पोलेमी'
१८० जेम्स लेजकृत 'फाहियानस रेकर्ड आफ बुद्धिस्टिक किंडम्स'
१८१ वाटर्सकृत युवान च्वांग
१८२ टमेनियर कृत 'ट्रभेल्स इन इंडिया'

२२. अर्वाचीन प्रकाशन

१८३ फ्लीट : सी० १.१; खण्ड ३, गुप्त इन्सक्रिप्सन्स
१८४ मार्क कौलिन्स : जुग्राफिकल डेटा आफ दि रघुवंश एण्ड दशकुमार चरित
१८५ वर्जेस : एण्टिक्विटिज आफ काठियावाड़ एण्ड कच्छ
१८६ फरगुसन एण्ड वर्जेस : केव टेम्पुल्स
१८७ एच० एच० विल्सन : एरियन एण्टिक्विटिज
१८८ एच० एच० विल्सन : इन्ट्रोडक्शन टू मकेंजी कलेक्शन्स

२१५ मैक्डोनल : वेदिक माइथोलोजी

२१६ डब्लू० डब्ल० टार्न : ग्रीक्स इन वैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया

२१७ ए० बी० कीथ : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर

२१८ के० पी० जायसवाल : हिन्दू पोलिटी

२१९ मैक्डोनल : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर

२२० स्मील : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर

२२१ वीनटरनीट : ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर

२२२ के० पी० जायसवाल : एन इम्पेरियल हिस्ट्री आफ इंडिया, १५० ए० डी० टु ३५० ए० डी०

२२३ नन्दो लाल डे : दि ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ एन्सियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया

२२४ जयचन्द विद्यालंकार : भारत-भूमि और उसके निवासी

२२५ भगवानलाल इन्द्रजी : एन्टिक्वेरियन रिमेन्स एट सोपर एण्ड पदन

२२६ भगवानलाल इन्द्रजी : एर्ली हिस्ट्री आफ गुजरात

२२७ भण्डारकर : एन्सियन्ट हिस्ट्री आफ डकन

२२८ दि लिस्ट आफ एन्सियन्ट मनुमेन्टस इन दी छोटानागपुर डिविजन

२२९ कृष्णस्वामी अयंगर : दि बिगनिंग आफ साउथ इंडियन हिस्ट्री

२३० जे० जे० मोदी : अर्ली हिस्ट्री आफ दि हून्स एण्ड देयर इनरोड्स इन इण्डिया एण्ड परसिया

२३१ प्रोसिडिंग्स एण्ड ट्रन्जेक्सन्स आफ दि सेकण्ड एण्ड सिक्स्थ ऑल इंडिया ओरियन्टल कान्फरेंन्स

२३२ टी० ए० गोपीनाथ राव : दि हिन्दू आइकोनोग्राफी

२३३ पी० के० आचार्य : इण्डियन आर्चिटेक्चर

२३४ पी० के० आचार्य : ए डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्चिटेक्चर

२३५ ए० एस० अल्टेकर : दि राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स

२३६ एस० बी० पन्त : अजन्ता

२३७ एस० बी० पन्त : एलोरा

२३८ मित्र : इण्डो एरियन्स १
२३९ मित्र : एन्टिक्वीटिज आफ ओरिस्सा
२४० चवलदर : सोसल लाइफ इन एनसियण्ट इंडिया
२४१ आर० के० मुकर्जी : लोकल गवर्नमेण्ट इन एन्सियंट इंडिया
२४२ सर आर० जी० भण्डारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रलिजस सिस्टम्स
२४३ लक्ष्मीधर कल्ल : दि बर्थ प्लेस आफ कालिदास
२४४ के० सी० चट्टोपाध्याय : दि डेट आफ कालिदास
२४५ वी० वी० मिराशी : कालिदास [हिन्दी]
२४६ वी० एस० उपाध्याय : वीमेन इन ऋग्वेद
२४७ लसेन : इन्ड. अट्ल.
२४८ तवेरीपर जर्नेनवर्ग, २
२४९ एम० डेगमिनेस : हिस्टेर डी हुन्स
२५० एम० चावन्न : टूरो ओसिडेन्टा
२५१ हिलब्राण्ड कालिदास

[इ]

२३. समीचीन कोश

२५२ सेन्ट . पिटर्सबर्ग डिक्शनरी
२५३ आप्टे संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी
२५४ डॉसन : क्लासिकल डिक्शनरी

२४. दैनिक तथा मासिक पत्र और गजट

२५५ जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बेंगाल १८३५, १८४८, १५, १७, ३१ ।
२५६ जर्नल आफ दि रोआयल एशियाटिक सोसायटी, १८९४, १८९७, १९००, १९०३-४, १९०९, १९१०, १९२६, १५

२५७　जरनल आफ दी वम्बे ब्राञ्च आफ दि रोआयल एसियायटिक सोसायटी, १६, २० ।
२५८　जरनल आफ दि विहार एण्ड ओरिस्सा रिसर्च सोसायटी, १९१६, १९२७, १९२८, १९२९, १९३० ।
२५९　एपिग्राफिक, इंडिका, ३.८ ।
२६०　इंडियन एण्टीक्वेरी, ६.७, १७, १८, ३४, ३९, १९१२, १९१९, ८, ४५
२६१　अनाल्स आफ दी भण्डारकर इन्स्टिट्यूट, भाग २, जुलाई १९२०, ८, १९२७ ।
२६२　इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९२५, १९३५ ।
२६३　इंडियन कल्चर, १, ४, अप्रिल, १९३५
२६४　कलकटा रिम्यू ५८, १८७४ ।
२६५　जनरल आफ दि वुद्धिस्टिक टेक्स्ट सोसायटी, ५ ।
२६६　दि एसियाडटिक रिसर्चेज, ७ ।
२६७　जनरल आफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, १३

२५. मानचित्र

२६८　लॉगमॅन्स सिनियर अटलास आफ इंडिया, भाग २
